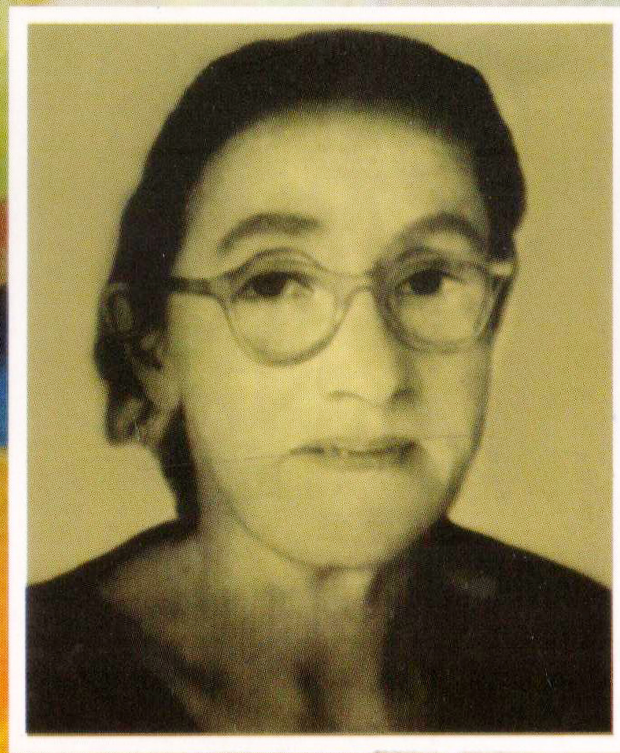
कर्मयोगी सरला बहन

प्रभा पंत



राष्ट्रीय जीवन चरित

कर्मयोगी सरला बहन

डॉ. प्रभा पंत

nbt.india

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत

NATIONAL BOOK TRUST, INDIA

ISBN 978-81-237-7800-6

पहला संस्करण : 2016 *(शक 1937)*

Karmyogi Sarla Bahen (*Hindi*)

₹. **90.00**

निदेशक, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन 5, इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-II वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070 द्वारा प्रकाशित

www.nbtindia.gov.in

आत्मकथ्य

यदि हम अपने आदिकालीन ग्रंथों को देखें, तो पाएँगे कि उनमें प्राकृतिक उपादानों—धरती, सूर्य, चन्द्रमा, नदी, वनस्पति आदि की स्तुति की गयी है। हमारे पूर्वज भलीभाँति जानते थे, इन प्राकृतिक उपादानों में जीवनी शक्तियाँ निहित हैं। मंत्रोच्चारण के माध्यम से उन्होंने इनके प्रति केवल अपनी कृतज्ञता ही ज्ञापित नहीं की है, बल्कि प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः अपनी भावी पीढ़ी को यह संदेश देने का प्रयत्न भी किया है कि हमें प्राकृतिक उपादानों का उपयोग तो अवश्य करना चाहिए, किंतु उसका अतिदोहन नहीं। भौतिक उन्नति के मद में आज हम अपने पूर्वजों की कही बातों को भुलाकर, प्रकृति द्वारा दिए गए समस्त अनमोल उपहारों को नष्ट-भ्रष्टकर करके अपने ही हाथों, अपने पर्यावरण को प्रदूषित कर रहे हैं।

हमारे पूर्वजों ने मानव सभ्यता के विकास के लिए, जिन आविष्कारों की खोज करने में अपने जीवन को होम कर दिया, आज हम उन वैज्ञानिक शक्तियों का भी दुरुपयोग करने लगे हैं। यही कारण है कि हम पुनः उस आदिम युग की ओर लौटने लगे हैं—जब मानव किसी हिंसक तथा भयभीत पशु से अधिक नहीं था। तब भी वह इतना ही स्वकेंद्रित था कि उसे दूसरों के सुख-दुःख एवं भूख-प्यास से कोई भी सरोकार नहीं था और आज एक बार फिर वह उतना ही हिंसक, स्वकेंद्रित तथा असंयमी होता चला जा रहा है।

उस युग में मानव ने अनेक विपरीत एवं अनुकूल परिस्थितियों को भोग; उनसे प्राप्त कटु एवं मधुर अनुभवों के परिणामस्वरूप ही उसने अपने शारीरिक बल के साथ अपनी बौद्धिक क्षमताओं का उपयोग करना भी प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे जब वह अपने हृदय और मस्तिष्क का समन्वित उपयोग करने लगा, तो विकास की इस प्रक्रिया के प्रतिफलस्वरूप परिवार बने, समाज बना तथा लोगों के हृदय में परस्पर सौहार्द भाव जागने लगा। जब मानव-मन में अपने क्षेत्र तथा

अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम की भावना बढ़ने लगी, तो निरन्तर मानव-सभ्यता एवं संस्कृति विकसित होती चली गई; किंतु तभी अनजाने ही उसकी स्वार्थपरता भी बढ़ने लगी और पनपने लगा—साम्राज्यवाद। मनुष्य अपनी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक आदि समस्त शक्तियों का दुरुपयोग करने लगा। अपनी उन्हीं लालसाओं तथा स्वार्थपरता के कारण आज हम मानवीय मूल्यों को भुलाकर पुनः पशुता की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

एक समय था—जब गुप्तांगों को ढकने के लिए वृक्षों की छाल, पत्तों तथा पशुओं की खाल का उपयोग प्रारम्भ हुआ था। कालान्तर में तन ढकना सभ्यता के साथ ही संपन्नता का भी प्रतीक बनता चला गया, और वस्त्रों की नाना तकनीकें विकसित होती रहीं। आज पुनः आदिम युग की भाँति लोग मात्र गुप्तांगों को ही ढकने लगे हैं; तथा उनके लिए कम वस्त्र धारण करना, सभ्यता एवं आधुनिकता का प्रतीक बनता चला जा रहा है।

क्या इससे यह प्रतीत नहीं होता कि हम, पुनः आदिम युग की ओर लौट रहे हैं, और विकसित राष्ट्र कहलाने की होड़ में, मनुष्य की भूख-प्यास, शिक्षा तथा संरक्षण को अनदेखा करके विकास के नाम पर जनसाधारण के धन का दुरुपयोग कर रहे हैं? कहीं हम, धरती पर अत्याचार, अनाचार तथा आतंकवाद की पौध उगाकर, अब चन्द्रमा और मंगल पर विषबेल का बीजारोपण करने की तैयारी तो नहीं कर रहे हैं? हमें ऐसे सभी बिंदुओं पर विचार करना चाहिए, जो मानव सभ्यता को विनाश की ओर ले जा रहे हैं।

हमारे पूर्वज वास्तव में महामानव थे, क्योंकि उन्होंने हमें न केवल प्राणिमात्र से प्रेम करने की शिक्षा दी, बल्कि हमें प्रकृति के कण-कण से प्रेम करना भी सिखाया। यदि हमने उनके अनुभवसिक्त उपदेशों को अपने जीवन में मूर्तिमान किया होता, तो आज मानवता विनाश के कगार पर खड़ी न होती, और न ही महापुरुषों का बलिदान व्यर्थ जाता। हमारी अज्ञानता का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है कि जिन महापुरुषों ने हमारे जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए अपने प्राणों की आहुति दी, मूर्तिपूजा तथा बाह्य आडम्बरों का खण्डन करके, हमें उनके जकड़न से मुक्त किया; सद्कर्म करते हुए हमें सहज जीवन जीने की प्रेरणा दी; उनके ब्रह्मविलीन होते ही हमने उन्हीं की मूर्तियाँ स्थापित कर दीं और उनके द्वारा दी गई शिक्षा एवं उपदेशों को भुलाकर अपने जीवन को पुनः आडम्बरों के जाल में उलझा दिया।

आज जब हम विश्व-पटल पर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें अधिकांश लोग

स्वार्थी एवं स्वयं तक ही सीमित दिखाई देते हैं; जबकि पचास के दशक से पूर्व हमें एक नहीं अनेक ऐसी महान् विभूतियों के उदाहरण मिल जाते हैं, जिनके जीवन का उद्देश्य धन, यश अथवा भौतिक सुख-सुविधाएँ जुटाना नहीं था, वरन् जिनके लिए राष्ट्रसेवा तथा जनसेवा की भावना सर्वोपरि थी। जनकल्याण हेतु कार्य करना ही, उनका एकमात्र लक्ष्य था। उन्होंने सत्य, अहिंसा, प्रेम, अस्तेय तथा अपरिग्रह का कोरा उपदेश ही नहीं दिया, बल्कि उनका सम्पूर्ण जीवन, इस उपदेश को चरितार्थ करने के लिए समर्पित रहा। वास्तव में वे त्याग एवं निःस्वार्थ सेवा की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे।

वर्तमान समाज में व्यक्ति काम से अधिक नाम को, तथा सेवा से अधिक धन को महत्त्व दे रहा है, समाजसेवा के नाम पर धनोपार्जन करना उसने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है। नाम की लालसा में वह, अनेक संगठन तथा संस्थाएँ स्थापित कर रहा है; विविध कार्यशालाओं एवं संगोष्ठियों आदि का सहारा लेकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ रहा है, तथा मीडिया को अपनी ओर आकर्षित करके, प्रचार-प्रसार के माध्यम से समाज को भ्रमित कर रहा है। इस स्थिति में एक ऐसी महिला, जिसका जन्म यद्यपि भारतभूमि में नहीं हुआ, तथापि उसने भारतवासियों की निःस्वार्थ सेवा करते हुए अपने जीवन को न्यौछावर कर दिया; अपने व्यक्तित्व की सरलता से उसने भारतवासियों के मन को मोह लिया, और इस तरह वह **कैथरीन से सरला** बन गई। इसी कारण उसका व्यक्तित्व एवं कृतित्व, आज के तथाकथित समाजसेवियों के लिए आदर्श कसौटी की तरह है। ग्रेट ब्रिटेन का प्रसिद्ध शहर लंदन उसका जन्मस्थल था, किंतु भारतभूमि को उसने अपनी कर्मस्थली बनाया; उस महान् विभूति को हम महात्मा गाँधी की परमप्रिय शिष्या, **सरला बहन** के नाम से जानते हैं।

मेरी दृष्टि में विश्व के किसी भी महान् व्यक्ति के लिए इससे अच्छी एवं सच्ची श्रद्धांजलि एवं कृतज्ञतांजलि कुछ और नहीं हो सकती कि लोग उसका अनुसरण करें। किसी व्यक्ति का यशोगान करना, मेरे लिए कागज़ एवं समय को व्यर्थ गँवाने के समान है; मैं इस बात पर अधिक विश्वास करती हूँ कि जिस व्यक्ति को हम अपना आदर्श समझते हैं अथवा जो हमारी दृष्टि में विद्वान एवं विशिष्ट होता है; हमें उसके गुणों का बखान केवल कागज़ों में अथवा भाषणों में ही नहीं करना चाहिए, बल्कि उस व्यक्ति के अनुरूप जीवन-शैली अपनाकर हमें समाज के लिए प्रेरणास्रोत भी बनना चाहिए।

किंतु, जब मैंने परम श्रद्धेया सरला बहन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विषय

में सुना तथा उनके त्याग एवं सेवामय तपस्वी जीवन के विषय में जाना, तो मैं अभिभूत हो उठी। यही कारण था कि जब सरला बहन की प्रिय शिष्या, श्रीमती शारदा बहन ने कहा–''मैं अपनी माँ के जीवनसघर्ष से देश ही नहीं, वरन् विश्व को परिचित कराना चाहती हूँ, जिससे कि लोग उनके कृत्यों को जानें और उस महान् विभूति के व्यक्तित्व से प्रेरित होकर अपने जीवन को उचित दिशा की ओर ले जा सकें।''

उनकी बातें सुनकर मुझे लगा, वास्तव में आज समाज जिस प्रकार मानवजीवन के वास्तविक उद्देश्यों तथा जीवनमूल्यों को भुलाकर पशुवत् स्वार्थी जीवन जी रहा है; ऐसी स्थिति में यदि बाल्यकाल में ही उन्हें, सरला बहन जैसी महान् विभूतियों के चरित्र से परिचित कराया जाए, तो निश्चय ही हम समाज को दिशाहीन होने से बचा सकेंगे।

अतः मैंने सरला बहन के जीवन-संघर्षों तथा उनके द्वारा हमारे देश और विशेषतः उत्तराखण्ड के गाँवों में पिछड़े-उपेक्षित वर्ग, नारी शिक्षा तथा पर्यावरण संरक्षण के लिए किए गए कार्यों को, पुस्तक के रूप में उजागर करने का विनम्र प्रयास किया है। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक, जहाँ एक ओर सरला बहन के विराट व्यक्तित्व को उजागर करेगी, वहीं दूसरी ओर यह बच्चों के लिए, अपने जीवन के लक्ष्य चुनने में भी सहायक सिद्ध होगी। किंतु इसके लिए आवश्यक है कि इस तरह की पुस्तकों को अनिवार्य रूप से विद्यालयों में पढ़ाया जाए। क्योंकि, जिस प्रकार किसी उपवन को मनोनुकूल बनाने के लिए माली, उसके पौधों एवं बेलों को स्वछन्दता से बढ़ने नहीं देता, वरन् उनमें काट-छाँट करता रहता है तथा उचित दिशा देने के लिए आधार प्रदान करता है, उसी प्रकार अपने देश के समुचित एवं सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है कि हम अपने बच्चों को वैसा साहित्य, विज्ञान एवं तकनीकी विषय पढ़ने को दें, जैसा समाज एवं देश हम चाहते हैं।

प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालय-स्तर पर यह कार्य सहजता एवं सुगमता से किया जा सकता है। इस आयु में मानव-मस्तिष्क कच्ची मिट्टी की भाँति होता है, उसे आसानी से मनोनुकूल आकार दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों को पढ़ना, विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य भी होता है। इसका सशक्त उदाहरण है– हमारा पड़ोसी देश पाकिस्तान, जहाँ लोगों में बाल्यकाल से ही धार्मिक संस्कार इस तरह कूट-कूटकर भर दिए जाते हैं, कि आजीवन इस्लाम की सुगन्ध उनके सामाजिक कृत्यों को प्रभावित किए रहती है।

आज समाज में हम जिस अराजकतापूर्ण वातावरण को देख रहे हैं, उसके लिए हम स्वयं ही उत्तरदायी हैं; क्योंकि यदि हम गहनता से चिन्तन किए बिना, अपनी-अपनी स्वार्थसिद्धि के अनुसार बच्चों को शिक्षित करते रहेंगे, तो समाज में स्वच्छन्दतापूर्ण वातावरण होना स्वाभाविक है। अतः राष्ट्रहित में तथा जनकल्याण हेतु हमारा दायित्व है कि हम अपने स्वार्थों से ऊपर उठकर, सुसंस्कृत समाज का संकल्प लें और ऐसा पाठ्यक्रम निर्धारित करें, जो लोगों में जाति-पाँति, धर्म-सम्प्रदाय तथा प्रांतवाद का भेदभाव जाग्रत न करे। जो हमारे बच्चों के हृदय में मानवकल्याण एवं विश्व-कल्याण के भावों और विचारों के बीज बो सके।

अन्ततः, सर्वप्रथम मैं, श्रद्धेय सरला बहन द्वारा स्थापित 'लक्ष्मी आश्रम', कौसानी तथा 'हिमदर्शन-कुटीर' धरमघर (पिथौरागढ़) की व्यवस्थापिका, संचालिका, तथा उनसे संबद्ध भाइयों एवं बहनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ; जिन्होंने सरला बहन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को उजागर करने वाले अनेक प्रेरणादायी एवं ज्ञानवर्धक अनुभव बाँटकर मेरा मार्गदर्शन किया।

मैं विशेष रूप से आभारी हूँ—शारदा विदूषी की, उन्होंने मुझे सरला बहन के महान् व्यक्तित्व से परिचित कराया। मैं आभारी हूँ—श्रद्धेय कच्चाहारी बाबा की, स्वतन्त्रता संग्राम-सेनानी मोहन सिंह रावत जी, डॉ. परमानन्द चौबे, तारा सिंह जी तथा डॉ. हरि सुमन बिष्ट की, जिन्होंने सदैव मेरे मनोबल को बढ़ाया।

इस सुअवसर पर मैं अपने जीवनसाथी श्री मदन मोहन पन्त, तथा अपने पुत्र कीर्तिवर्धन के साथ ही, अपनी सहायिका बॉबी के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ, इन्होंने प्रतिक्षण तन-मन से सहयोग देकर मुझे आत्मिक बल प्रदान किया। ईश्वर से यही प्रार्थना है कि आजीवन इन सभी से मेरा आत्मीयतापूर्ण संबंध बना रहे।

कर्मयोगी सरला बहन

हमारे आदिकालीन ग्रंथों में जिस 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'विश्वबन्धुत्व' का उद्घोष किया गया है, उसी का जीवंत उदाहरण हैं—सरला बहन। जो भारतीय मूल की न होकर भी सच्ची भारतीय थीं। जिन्होंने राष्ट्र एवं धर्म की सीमाओं को लाँघकर प्राणिमात्र की सेवा को अपना धर्म माना और भारत को अपनी कर्मभूमि। आजीवन उस धर्म का पालन करती हुई, वह एक कर्मयोगिनी की भाँति जाति-पाँति तथा वर्गभेद को भुलाकर प्रत्येक ज़रूरतमंद की निःस्वार्थ सेवा करती रहीं।

भारत में आने से पूर्व

सरला बहन का जन्म 5.4.1901 (पाँच अप्रैल उन्नीस सौ एक) को प्रातःकाल 'गुडफ्राइडे' के दिन, लंदन के एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ। उनका नाम 'हैरी कैथरीन हाइलामैन' रखा गया, किंतु माता-पिता प्यार से उन्हें 'केटी' कहा करते थे। उनकी माँ अंग्रेज़ थीं, तथा पिता का जन्म स्विटज़रलैंड में हुआ था। उनकी दादी वुर्टनबर्ग के 'कॉलेबन' की थीं तथा दादा फ्रांस के निवासी थे। कालान्तर में वे सपरिवार इंग्लैंड आकर रहने लगे। उनके परिवार में अनेक भाषाएँ बोली जाती थीं, अतः कैथरीन को विविध भाषाओं का ज्ञान होना स्वाभाविक ही था।

कैथरीन की माँ अत्यंत कर्मठ, स्नेहिल एवं विदूषी थीं। व्यवसाय से वह एक शिक्षिका थीं। उनके पिता स्वर्णकार थे। उनका एक भाई था, जिससे वे अगाध स्नेह किया करती थीं। जब वे मात्र सात वर्ष की थीं, तब दुर्भाग्यवश कैंसर ने उनकी माँ को अपनी चपेट में ले लिया। इस तरह छोटी उम्र में ही उनके जीवन से माँ का स्नेहाकाश छिन गया। माँ की मुत्यु से पूर्व उनके घर का वातावरण अत्यंत अनुशासित हुआ करता था। जब भी वे अपनी माँ के विषय में बातें किया करती थीं, तो बरबस ही उनकी आँखें छलक आया करती थीं। एक बार जब

वे अस्वस्थ थीं, तब अपनी माँ के साथ व्यतीत किए हुए स्नेहिल क्षणों को याद करते हुए उन्होंने बताया—"जब लगभग पाँच वर्ष की थी, तब मैं एक बार बहुत बीमार हुई। माँ रात-दिन मेरे सिरहाने पर बैठी, स्नेह से मेरे सिर पर हाथ फेरती रहती थीं।"

उनके पिता परिश्रमी एवं कलात्मक अभिरुचि के व्यक्ति थे। यद्यपि व्यवसाय से वह स्वर्णकार थे, किंतु आजीविका जुटाने के प्रति हमेशा उदासीन रहते थे। उन्हें बाग़वानी करना रुचिकर लगता था; काष्ठकला में भी उनकी रुचि थी। अतः उनके पास बढ़ईगिरी के औज़ार भी थे। समय मिलने पर वह अपने घर की टूट-फूट की मरम्मत का कार्य स्वयं ही कर लिया करते थे। सरला बहन कहती थीं—"माँ की मृत्यु के पश्चात् पिताजी अपनी आजीविका के प्रति कुछ लापरवाह हो गए थे। इसलिए दादी को उसकी पूर्ति अपनी जीवनभर कमाई हुई जमा पूँजी से करनी पड़ती थी। उन्होंने हमारा पालन-पोषण बहुत स्नेह से किया। वह बहुत बूढ़ी थीं, फिर भी उनका आत्मबल प्रबल था। हम दोनों भाई-बहन एक ही कक्षा में पढ़ा करते थे, दोनों ही पढ़ने में बहुत अव्वल थे। यही कारण था कि हमें हाई स्कूल में वजीफ़ा भी मिलने लगा, जिससे हमारी पढ़ाई-लिखई सुचारु रूप से चलने लगी। परिवार के प्रति पिताजी के उपेक्षापूर्ण एवं उदासीन व्यवहार से मुझे बहुत खिन्नता होती थी। यही कारण था कि मैंने अपने पैरों पर खड़े होने का निश्चय किया।"

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि हम जिससे प्रभावित होते हैं, उसकी विशेषताओं का अनुकरण सहज ही करने लगते हैं, धीरे-धीरे उसकी विशेषताएँ हमारे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बनती चली जाती हैं। कैथरीन अपनी दादी के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित थी। अतः दादी के इन सभी गुणों की स्पष्ट छाप उनके व्यक्तित्व में भी विद्यमान दिखाई देती थी। वे बताती थीं—"दादी हमें कभी भी डिब्बा-बन्द खाना नहीं परोसती थीं। हमेशा ताज़ा खाना बनाकर खिलाती थीं, तथा पोषक तत्त्वों का बहुत ख़्याल रखती थीं। दादी कहा करती थीं—"संतुलित आहार तथा ताज़ा भोजन खाकर व्यक्ति स्वस्थ एवं निरोगी रहता है।"

दादी की स्नेहछाया में जब दोनों भाई-बहनों के दिन आनन्दपूर्वक व्यतीत हो रहे थे कि अचानक दुर्भाग्य के काले बादल घिरने लगे। 28 जून 1914 को जब साराजेवो में आस्ट्रिया-हंगरी के राजकुमार फ्रॉज़ फर्डिनैंड की हत्या हो गई, तो जर्मनी और ब्रिटेन, जो हमेशा मित्र देश हुआ करते थे तथा आपस में वैवाहिक संबंध भी स्थापित किया क़रते थे, सहसा एक-दूसरे के कट्टर शत्रु बन गए। इसके विपरीत फ्रांस, जिससे ब्रिटेन के अक़्सर मतभेद हो जाया करते थे, उससे,

उसकी मित्रता हो गई और दोनों ने मिलकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। उन दुर्दिनों को याद करती हुई वे कहा करती थीं—"उस समय मैं चौदह वर्ष की थी। तब मैं यह नहीं समझ पाती थी कि आख़िर युद्ध से क्या लाभ होता है। आज मेरी उम्र पचहत्तर की है—अब भी मैं, न तो राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय राजनीति की बातें समझ पाती हूँ, और न ही यह समझ पाती हूँ कि युद्ध का औचित्य क्या होता है? मैंने हमेशा यही देखा और महसूस किया है जब भी दो देशों के बीच युद्ध होता है, तो उनमें ख़ून की नदियाँ बहती हैं, हज़ारों बेगुनाहों की जान जाती है, बच्चे अनाथ हो जाते हैं और परिवार उजड़ जाते हैं। ऐसे विकास का भला क्या अर्थ है जिससे मानवता का विनाश हो रहा हो; तथा धरती की कोख उजड़ती चली जा रही हो।"

कैथरीन के पिता को संदेह के आधार पर शत्रुपक्ष का मानकर नज़रबंद कर दिया गया था। अतः उन्हें ही नहीं, वरन् उनके साथ-साथ परिवारजनों को भी सामाजिक उपेक्षा के कारण मानसिक उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा। वे बताती थीं—"पिताजी के जन्म-प्रमाण पत्र में स्थान संबंधी कुछ गड़बड़ी होने के कारण उन पर शत्रुपक्ष का होने का आरोप लगाया गया, तथा निर्दोष होने पर भी उन्हें नज़रबंदी भोगनी पड़ी। तभी पहली बार मुझे लगा—कानून अंधा है।"

कैथरीन को विश्वास था कि लोग इस अन्यायपूर्ण युद्ध का विरोध करेंगे, किंतु हुआ ठीक इसके विपरीत। चारों ओर से यह आवाज़ आने लगी कि बर्लिन पर हवाई हमले किए जाएँ, तथा इंग्लैंड में जो भी जर्मन परिवार रह रहे हैं, उन्हें इंग्लैंड से बाहर निकाल दिया जाए। फलस्वरूप वहाँ जो भी जर्मन परिवार रहते थे, उनके स्त्री एवं बच्चों पर ब्रिटेन ने पथराव करना शुरू कर दिया। इस अत्याचार को देखकर कैथरीन का किशोर मन आक्रोश से भर उठा था। अन्याय को सहन करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था, किंतु वे विवश थीं। जब भी वे अन्याय के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने का निश्चय करके कोई भी क़दम उठातीं, तो उनकी दादी उन्हें समझा-बुझाकर चुप कर देती थीं। वह कैथरीन को समझाती हुई कहा करती थीं—"किट्टी चुप रहो! यद्यपि मैं जर्मन नागरिक नहीं हूँ, मुझे इंग्लैंड की नागरिकता प्राप्त है, किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि तुम्हारे पिता के जन्म से पूर्व, मैं कुछ समय जर्मनी में रही थी। शायद, इसी कारण तुम्हारे पिता को संदेहात्मक दृष्टि से देखा जा रहा है। यदि तुम ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आवाज़ उठाओगी, तो यह भी संभव है कि मुझे जर्मन मानकर सरकार मुझको देश निकाला दे दे। यदि ऐसा हुआ, तो सोचो—तुम लोगों की परवरिश कौन करेगा?"

कैथरीन की दादी दोनों बच्चों को क्रोंग्रिगेशनल गिरजाघर ले जाया करती थीं। वहाँ पादरी को प्रार्थना करते हुए देखकर कैथरीन अक़्सर सोचा करती थी—अन्याय करने वाले लोग, अन्याय सहने वाले लोग, जर्मनी के पादरी तथा इंग्लैंड के पादरी—सभी गिरजे में जाते हैं और सभी अपने-अपने देश की सफलता के लिए परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करते रहते हैं। ऐसे में उसका बाल मन सोचता था—प्रभु! इस खींचातानी में किसका साथ देगा? वह हत्या करने वालों को भी आशीष क्यों देता है? कैथरीन समझ नहीं पाती थी कि धर्म क्या है, किंतु उसे ईसा मसीह की कथाएँ पढ़ना एवं सुनना अत्यन्त प्रिय था। ईसाई धर्म-प्रचारकों के विषय में उसके हृदय में अत्यन्त आदरभाव था। अतः नन्हीं-सी कैथरीन ने मन-ही-मन निश्चय किया कि मैं भी बड़ी होकर मिशनरी बनूँगी। किंतु, जब उसने देखा कि गिरजाघर में अन्याय करने वाला व्यक्ति भी स्वयं को सही मानकर पादरी से अपनी सफलता के लिए प्रार्थना करवा रहा है और पादरी उसके लिए प्रार्थना कर रहा है तथा इसके अतिरिक्त एक दिन उसने पादरी को यह भी कहते सुना—''ईसा के शरीर और ख़ून में पहुँचकर शराब, शराब नहीं रहती थी।'' तब इन बातों को देख-सुनकर कैथरीन का बाल-मन अत्यन्त क्षुब्ध हो गया। परिणामस्वरूप उसने गिरजाघर जाना छोड़ दिया।

वृद्धावस्था तक भी वे इस रहस्य को नहीं जान सकीं कि वास्तव में सत्य क्या है, और धर्म क्या है? वे कहा करती थीं—''मेरी दृष्टि में प्रभु द्वारा रचित देह की हत्या करना संसार का सबसे बड़ा पाप है। किंतु, मुझे यह देखकर आश्चर्य और दुःख होता है कि जो व्यक्ति युद्ध में जितने अधिक व्यक्तियों को मारता है, उसे उतना ही अधिक वीर एवं साहसी क्यों समझा जाता है? जबकि पादरी प्रभु से प्रार्थना करता है—'हे पिता परमेश्वर! तू जो स्वर्ग में है, तेरा नाम पवित्र माना जाए, तेरा राज्य आए, तेरी इच्छा जैसी स्वर्ग में चलती है, वैसी धरती पर चले। जैसे हम अपने अपराधों को क्षमा करते हैं, वैसे ही तू हमारे अपराधों को क्षमा कर, हमें परीक्षा में मत डाल, बल्कि बुराई से बचा और हमें आज दिनभर की रोटी दे। आमीन!' प्रभु प्रतिदिन ऐसी प्रार्थना सुनता है और फिर भी अन्याय-अत्याचार करने वालों को सज़ा क्यों नहीं देता या फिर, धरती पर जो कुछ भी हो रहा है क्या वह प्रभु की मर्ज़ी है?''

सरला बहन ने अपनी पुस्तक 'व्यावहारिक वेदांत एक आत्मकथा' में लिखा है—''ईसा की शिक्षा में मैंने पढ़ा था—'अगर कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे, तो अपना दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।' लेकिन, लडाई के दिनों

में जब मैं पादरियों के मुँह से 'हमारी फ़ौज' की विजय की प्रार्थना सुनती, तो मुझे लगता कि शायद जर्मनी के पादरी भी इसी प्रकार प्रार्थना अपनी फ़ौज की विजय के लिए भी करते होंगे।...मुझे धार्मिक उपदेशों पर शंका होने लगी। इसलिए न मैं कन्फ़र्मेशन लेने को तैयार हुई, और न 'होली कम्यूनियल' में ही शामिल हुई। मैंने गिरजाघर जाना भी छोड़ दिया।''

एक बार उन्हें रविवारीय पाठशाला में 'ताड़ का देश केरल' नामक पुस्तक पुरस्कार स्वरूप प्राप्त हुई। उसे पढ़कर वे अत्यन्त प्रभावित हुईं। उनके मन में भारत को देखने की तीव्र उत्सुकता जाग उठी। वह प्रकृति से बहुत प्रेम करती थीं। जब भी उनका मन उद्वेलित हो उठता था, तो वह जंगल की ओर चल पड़ती थीं। प्रकृति के सान्निध्य में उन्हें माँ के स्नेहिल आँचल की छाया की अनुभूति होती थी। वे कहा करती थीं—''जब मैं छोटी थी, तब प्रतिदिन जब मुझे समय मिलता था, अपनी साइकिल लेकर बार्कशीफ़-बर्किंग्घमशीर के जंगलों की ओर चल पड़ती थी, और घंटों वहाँ बैठकर चिंतन-मनन करती रहती थी। जब मैं चर्च में पादरी से ईशु के उपदेश सुनती थी, और चर्च से बाहर उपदेश देने एवं सुनने वालों को समाज में एक-दूसरे के प्रति राग-द्वेष से भरा हुआ तथा एक-दूसरे के खून का प्यासा देखती थी, तो मुझे लोगों को दोहरा जीवन जीते हुए देखकर तथा उनकी कथनी-करनी में भेद देखकर खिन्नता होती थी। यही कारण था कि प्रकृति की निश्छलता हमेशा मुझे अपनी ओर खींचती थी, और मैं आत्मिक शान्ति पाने के लिए जंगलों की ओर चली जाती थी।''

बचपन से ही कैथरीन की बुद्धि तीव्र थी। उसे प्राचीन एवं आधुनिक भाषाओं को सीखने का बहुत शौक था। भाषा, गणित, तथा इतिहास को शीघ्रता से सीखने और समझने के कारण उसकी शिक्षिकाओं को विश्वास था कि एक दिन वह छात्रवृत्ति लेकर विश्वविद्यालय में अवश्य प्रवेश लेगी; किंतु उसे इन विषयों से अधिक फ़िलॉलाजी में विशेष रुचि थी। दुर्भाग्यवश जन्मजात मिश्रित खून की होने के कारण उसकी प्राचार्या भी कैथरीन की राष्ट्रभक्ति पर संदेह करने लगी थीं। उन्होंने कैथरीन को छात्रवृत्ति देने से मना कर दिया। एक दिन प्राचार्या ने उसे अपने ऑफ़िस में बुलाया और कहा—''सुनो कैथरीन! यह निश्चय किया गया है कि शत्रुवंशी होने के कारण तुम्हें छात्रवृत्ति नहीं मिल सकती। यह इसलिए भी ठीक है, क्योंकि तुम युद्ध प्रयत्नों में काम नहीं करती हो, और युद्ध प्रयत्नों में लगी हुई छात्राओं के मुक़ाबले में तुम्हें आसानी से जीत मिल जाया करती है।''

छात्रवृत्ति न मिलने के कारण कैथरीन उतनी आहत नहीं हुई, जितनी अधिक आहत वह छात्रवृत्ति न मिलने के कारण को जानकर हुई। यद्यपि उसके पिता कभी जर्मनी गए ही नहीं, तथापि केवल संदेह के कारण उन पर शत्रुपक्ष का होने का आरोप लगा दिया गया, और इस तरह एक निरपराधी व्यक्ति को बंदी बना लिया गया तथा उनकी संतान होने के कारण कैथरीन को भी दंडित होना पड़ा।

कैथरीन के सद्‌व्यवहार एवं बुद्धिमत्ता के कारण उसके गुरुजन उससे अत्यन्त प्रेम करते थे, किंतु कानून के समक्ष विवश होने के कारण वे चाहकर भी कैथरीन की सहायता नहीं कर सके। अपने जीवनकाल के उन बुरे दिनों को याद करते हुए वह बताती थीं—"मैं सोचती थी कि ऐसे उच्च शिक्षा संस्थाओं का क्या अर्थ है, जहाँ न तो सत्य-असत्य की परख है और न जिन्हें अपने बच्चों के विश्वास को तोड़ने, उनके हृदय को आहत करने में कोई संकोच होता है और न ही पीड़ा।"

आर्थिक दृष्टि से घर की स्थिति दयनीय हो गई थी। अतः कैथरीन को अपनी पढ़ाई छोड़कर नौकरी की तलाश में जुटना पड़ा। वह सुबह से शाम तक एक ऑफिस से दूसरे ऑफिस के चक्कर काटती रहीं, किंतु सभी उसे शत्रुपक्ष का मानकर नौकरी पर रखने से इंकार करते रहे। कैथरीन के वे सभी स्वप्न, जो उसने अपने तथा अपने भाई के भविष्य के लिए देखे थे, एक-एक कर टूटने लगे। धीरे-धीरे व्यक्तिगत निराशा सामाजिक विद्रोह का रूप धारण करने लगी। जिस प्रकार प्रत्येक अंधकारमयी रात्रि के पश्चात् सूर्योदय होता है, उसी प्रकार कैथरीन के जीवन में भी आशा की किरण तब उदित हुई, जब एक दिन अनायास उसे एक पत्र प्राप्त हुआ। उसमें लिखा था—"हमारे ऑफिस मे एक पद रिक्त है। यदि आप इच्छुक हैं, तो आवेदन कर सकती हैं।"

अंधे को क्या चाहिए दो आँखें। इस तरह कैथरीन को नौकरी मिल गई। किंतु, जिस प्रकार वर्षाऋतु में उड़ते हुए बादल सूर्य को ढक लेते हैं, ठीक उसी प्रकार दुःख एवं पीड़ा के बादल कैथरीन के जीवन को जब-तब ढक लिया करते थे। जिस ऑफिस में वह कार्य करती थी, उसका मालिक एक व्यापारी था। वह कैथरीन की मेहनत और लगन से प्रसन्न था और हमेशा उसकी प्रशंसा किया करता था। यहाँ भी एक और मुश्किल ने उसे घेर लिया; ऑफिस के अन्य कर्मचारी उससे ईर्ष्या करने लगे। उन लोगों को हमेशा उस अवसर की तलाश रहती थी, जिसको आधार बनाकर वे मालिक को कैथरीन के विरुद्ध भड़का सकें। जब उन्हें इस बात की भनक लगी कि उसके पिता को शत्रुपक्ष का मानकर कारावास की सज़ा दी गई है, तो वे लोग तरह-तरह के व्यंग्य कसकर तथा उसके प्रति उपेक्षापूर्ण

रवैया अपनाकर उसको मानसिक रूप से उत्पीड़ित करने लगे। आज भी समाज में ऐसे लोगों की कमी नहीं, जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य काम करने वाले लोगों से ईर्ष्या करना, उनके मार्ग में बाधाएँ डालना, उनके विरुद्ध अफ़वाहें फैलाकर दूसरों की नज़रों से उन्हें गिराना ही रहता है। निःसंदेह इससे कभी-कभी वे कर्मपथ के राही के मार्ग में काँटे बिछाने में अवश्य सफल हो जाते हैं; किंतु वे उसे उसके लक्ष्य से विमुख करने में कभी भी सफल नहीं होते। अपनी योग्यता, लगन तथा सच्चाई के बल पर ऐसे कर्मशील लोग अपने मार्ग की समस्त बाधाओं को हटाते हुए आगे बढ़ते रहते हैं।

जिस व्यापारी के यहाँ कैथरीन कार्य करती थी, उस व्यापारी के दो पुत्र सेना में थे, जिनमें एक पुत्र युद्ध में मारा जा चुका था। अतः जब उसे इस बात का पता चला, तो उसने भी कैथरीन से बातचीत करना छोड़ दिया। कैथरीन अपने ऑफिस का हिसाब-किताब करने में माहिर थी, वह अपने कठिन-से-कठिन कार्य को करने में भी हमेशा सफल रहती थी, यही वजह थी कि मालिक चाहकर भी उसे नौकरी से निकालने का साहस नहीं कर पा रहा था। उधर कैथरीन अपने पिता पर लगाए जा रहे लांछनों को सुन-सुनकर खिन्न हो चुकी थी। उसके पास ऐसा कोई सुबूत भी नहीं था कि वह अपने पिता को निर्दोष सिद्ध कर पाती; अन्ततः थक-हारकर कैथरीन ने स्वयं वह नौकरी छोड़ दी।

जब सरकार को कैथरीन के पिता के विरुद्ध कोई भी प्रमाण नहीं मिला, तो युद्ध समाप्त होने के पश्चात् उन्हें विवश होकर क़ैद से मुक्त करना पड़ा। किंतु, तब तक उसके तथा उसके परिवार के प्रति समाज का दृष्टिकोण पूरी तरह से बदल चुका था, अधिकांश लोग अब भी उन लोगों को शत्रुपक्ष का ही मानते थे। एक बार जब अंतरंग क्षणों में शारदा बहन (सरला बहन की शिष्या) ने सरला बहन से उनके घर-परिवार के विषय में पूछा तो कुछ क्षण वे शून्य में देखती रहीं और फिर डबडबाई आँखों से उनकी ओर देखकर, रुँधे कंठ से बोलीं—"भाई को कला से बहुत प्रेम था, वह दार्शनिक स्वभाव का था। अपना अधिकांश समय साहित्य पढ़ने में ही व्यतीत किया करता था। दादी रसोई के साथ घर भी संभाला करती थीं और मैं धनोपार्जन किया करती थी। जब सरकार ने पिता को निर्दोष मानकर कारागार से मुक्त कर दिया, तब भी हम समाज के उपेक्षित व्यवहार को सहते हुए भी अपनी छोटी-सी दुनिया में खुश रहते थे। लेकिन, खुशियों को अधिक दिनों तक हमारा साथ रास नहीं आया और एक बार फिर खुशियाँ हमें छोड़कर चली गईं। पिताजी के जेल से छूटने के कुछ माह पश्चात् ही दादी हमेशा

के लिए हमें अकेला छोड़कर दूसरी दुनिया में चली गईं।''

जीवन में अनेक बार लोगों के दोहरे व्यवहार तथा संबंधों के उथलेपन ने उनके कोमल हृदय को आहत किया। यह पीड़ा आजीवन उनके मन को सालती रही, इससे उनके मन में लोगों के प्रति अविश्वास भर गया। दादी की मृत्यु के पश्चात् उनके जीवन में एकाकीपन बढ़ने लगा और वर्षों बाद तक एकाकीपन की उस टीस को वे भूल न सकीं। उन्होंने लिखा—''दादी का जाना एकाएक मुझसे सहा नहीं गया। अपने जीवन की अँधेरी-से-अँधेरी घड़ियों में उनका प्रेम ही मेरा एकमात्र सहारा था। पिताजी की जीवनीशक्ति पर मुझे बहुत विश्वास नहीं था। मुझे दफ़्तर जाते हुए जितनी परेशानी होती थी, उतनी ही वापस आने में भी होती थी। पिताजी से एक दिन मेरी इसी बात पर खटक गई कि इतवार के दिन कपड़े धोकर उन्हें खुली जगह में सुखाना चाहिए या नहीं। मन दुःखी तो रहता ही था, इस घटना ने मुझे बिल्कुल तोड़ दिया और मैं घर छोड़कर निकल गई।''

अपने उस एकाकीपन तथा आजीविका की तलाश में एक बार फिर कैथरीन काम की तलाश में घर से निकल पड़ी। इसके बाद नौकरियाँ और निवास बदलने का क्रम चलता रहा। उसे जो भी कार्य मिलता, यद्यपि उसे वह लगन से किया करती थी, किंतु अधिकांश लोगों को चाटुकारिता पसन्द थी; अतः जब कभी भी काम कम होने पर कर्मचारियों की छँटनी होती, तो कैथरीन को भी निकाल दिया जाता था। वह कहा करती थीं—''व्यक्ति आखिरकार व्यापारिक मशीन का एक पुर्ज़ा ही तो है। मशीन का मालिक किसी भी आदमी को निकालते हुए महसूस ही नहीं करता था कि वह किसी जीते-जागते आदमी के साथ दुर्व्यवहार कर रहा है। उसके लिए मनुष्य भी पुर्ज़े की तरह कोई जड़ चीज होती थी।''

सौभाग्यवश इस बार कैथरीन को जहाँ नौकरी मिली, वहाँ के लोगों का स्वभाव एवं रुचियाँ उनके अनुरूप थीं। जहाँ वह रहा करती थीं, वह एक अन्तर्राष्ट्रीय परिवार था, वहाँ अधिकांशतः यूरोप से आए हुए विद्यार्थी रहा करते थे और कुछ शिक्षक भी। कैथरीन को वहाँ का सादगी भरा जीवन एवं रहन-सहन, शहर के बनावटीपन एवं चकाचौंध से भरे हुए जीवन से अधिक अच्छा लगा।

एक दिन उस परिवार के मुखिया ने कैथरीन से पूछा—''मैं यहाँ भारतीय विद्यार्थियों को भी रखना चाहता हूँ, तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं होगी?''

कैथरीन ने आश्चर्य से पूछा—''मुझे भला आपत्ति क्यों होगी?''

मालिक ने कहा—''क्योंकि, अंग्रेज़ रंगभेद के कारण भारतीयों के साथ रहना पसन्द नहीं करते हैं।''

तब कैथरीन बोली—"मेरी दृष्टि में मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं है। आप निःसंकोच भारतीय विद्यार्थियों को यहाँ रहने की अनुमति दे सकते हैं।"

उसके बाद आस-पास के कमरों में अनेक भारतीय विद्यार्थी आकर रहने लगे। वे सभी एक दूसरे का बहुत ख़्याल रखते थे। भारतीय विद्यार्थियों की नम्रता तथा एक दूसरे के प्रति भावनात्मक लगाव, कैथरीन को ही नहीं, अपितु वहाँ रहने वाले सभी अंग्रेज़ों को बहुत अच्छा लगता था। उन विद्यार्थियों के आने के बाद धीरे-धीरे वहाँ का वातावरण अत्यन्त सौहार्दपूर्ण हो गया। उनके साथ रहकर कैथरीन भारतीय संस्कृति के विषय में थोड़ा-बहुत जानने लगी थी। उसे जब भी अवसर मिलता, वह भारतीय विद्यार्थियों से भारत तथा वहाँ के लोगों के विषय में बातें किया करती थी।

बातचीत के दौरान जब कैथरीन ने जाना—गाँधीजी द्वारा चलाए जा रहे अहिंसक स्वराज आन्दोलन में चरखा, केवल बिटिश सरकार या साम्राज्यवाद के विरुद्ध ही विद्रोह नहीं है, बल्कि अमानवीयता की दिशा में किए जा रहे यान्त्रिकयुग के विरोध में उठाया गया शोषणरहित अहिंसक समाज की स्थापना का भी प्रतीक है। तब से उसने महात्मा गाँधी और उनके अहिंसावादी आन्दोलन तथा भारतवासियों पर अंग्रेज़ों द्वारा किए जा रहे अन्याय एवं अत्याचारों के विषय में और भी विस्तार से जानना प्रारम्भ कर दिया। उन भारतीय विद्यार्थियों की बातों के आधार पर कैथरीन को यह समझने में देर नहीं लगी कि अंग्रेज़ों का भारत जाने का मुख्य उद्देश्य परोपकार करना नहीं, बल्कि उनका पोषण करना और वहाँ की संस्कृति का विनाश करके अपनी संस्कृति को उन पर लादना है।

उसके बाद वह धीरे-धीरे लंदन की विभिन्न भारतीय संस्थाओं के संपर्क में भी आने लगी। उनके विचारों से प्रभावित होकर भारतीय स्वतंत्रता तथा असहयोग आंदोलन की पक्षधर भी बन गई। इस संबंध में सरला बहन ने लिखा—"ग़लत शिक्षा देकर एक उपमहाद्वीप से उसकी संस्कृति छीनना और वहाँ के लोगों को दफ़्तरी कामों के लिए उनकी ही धरती से उखाड़कर शहरों में रोप देना, कच्चे माल का निर्यात करके वहाँ के भूखे-नंगे किसानों पर अपना पक्का माल लादना, आदि कितनी बड़ी अमानवीयता है।"

गाँधीजी चाहते थे, गाँवों में पैदा होनेवाले कच्चे माल से गाँवों के ही संसाधनों का उपयोग करके वहीं पक्का माल तैयार होना चाहिए। बापू का यह सुझाव आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से व्यावहारिक था। यही कारण रहा, गाँधी के इन विचारों ने कैथरीन को अत्यधिक प्रभावित किया। अंग्रेज़ों द्वारा भारतीयों के मूलभूत

अधिकार, शिक्षा और स्वास्थ्य की अवहेलना करके, आय के अधिकांश भाग को अपनी फ़ौज के अधिकारियों पर ख़र्च करने तथा मादक पदार्थों को बढ़ावा देकर अपनी आय बढ़ाने की बात जानकर, कैथरीन के भीतर सोई हुई विद्रोह की चिंगारी भड़क उठी। जब उसने अनेक भारतीयों से सत्याग्रह के चमत्कार के क़िस्सों को सुना, तो वह अभिभूत हो उठी और उसने गाँधीजी के आन्दोलन से जुड़ने का निश्चय किया। उन्होंने व्यावहारिक वेदान्त में अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है—"मुझे लगा कि एक ग़ैर ईसाई देश में ईसा की आत्मा पुनर्जाग्रत हो गई है।"

सौभाग्य से उन्हीं दिनों एक बार गाँधीजी गोलमेज़ परिषद् में सम्मिलित होने के लिए इंग्लैंड पहुँचे। कैथरीन की सखी सीलिया किंग्ज़लेहॉल म्यूरियल लेस्टर में काम करती थी, वह जानती थी कि कैथरीन गाँधीजी से अत्यन्त प्रभावित है तथा उनसे मिलने की इच्छुक है। अतः उसने कैथरीन के पास संदेश भिजवाया कि गाँधीजी आ रहे हैं। जैसे ही कैथरीन को गाँधीजी के आने की सूचना प्राप्त हुई, तो उसकी खुशी का ठिकाना न रहा और वह तुरन्त बापू से मिलने पहुँच गई। किंतु, दुर्भाग्यवश अनायास ही गाँधीजी को कहीं और जाना पड़ा। कैथरीन जितने उत्साह से आई थी, उतनी ही निराश होकर उसे लौटना पड़ा।

कुछ दिन पश्चात् पुनः सीलिया ने अपने एक मित्र के माध्यम से कैथरीन के पास यह संदेश भेजा कि गाँधीजी रस्किन कॉलेज, ऑक्सफोर्ड में रविवार को विद्यार्थियों से मिलने आ रहे हैं। लेकिन, किस्मत को यह मंजूर नहीं था कि उन्हें इतनी सरलता से गाँधीजी के दर्शन हो पाते। अभी उन्हें सब्र की और कई परीक्षाएँ देनी थीं। शायद, तभी उस दिन तेज़ बारिश हो गई। कुछ विद्यार्थी ठंड से बचने के लिए वाचनालय के एक कमरे में अँगीठी के पास आग तापने बैठ गए और कुछ कमरे से बाहर गाँधीजी की प्रतीक्षा करने लगे। सभी विद्यार्थी बारी-बारी से, कभी आग सेंकने भीतर कमरे में आते और ठंड दूर होने पर पुनः बाहर जाकर गाँधीजी की राह देखने लगते। सभी ने मिलकर यह निश्चय किया—जैसे ही गाँधीजी आएँगे, तो उन्हें देखते ही ज़ोर-ज़ोर से घंटी बजा दी जाएगी, जिससे कि भीतर बैठे साथियों को उनके आने की सूचना मिल जाए। किंतु, जैसे ही गाँधीजी वहाँ पहुँचे, बाहर खड़े सभी विद्यार्थी खुशी के कारण घंटी बजाना भूलकर गाँधीजी की ओर दौड़ पड़े। अतः कमरे के भीतर बैठे विद्यार्थियों को उनके आने की ख़बर ही नहीं मिल सकी। वे भीतर बैठे यह सोचते रहे कि शायद वर्षा के कारण मार्ग अवरुद्ध हो गया होगा, इसीलिए अब तक बापू नहीं पहुँचे। उन लोगों को बापू

के आने की सूचना तब मिली, जब वे वहाँ आकर चले भी गए। कैथरीन भी उन विद्यार्थियों में से एक थी, जो भीतर बैठे गाँधीजी के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। जब उसे यह पता चला, वे आकर चले भी गए हैं, तो यह सोचकर उसकी आँखें भर आईं—न जाने कब मुझे इस युग के ईसा मसीह के दर्शन होंगे।

सरला बहन ने जब से गाँधीजी के अहिंसा आंदोलन के विषय में सुना, तभी से उनका हृदय गाँधीजी के प्रति अपार श्रद्धा एवं प्रेम से भर उठा था। अब तक कैथरीन ने ईसा मसीह के उपदेश सुनाने वाले बहुत से लोगों को तो देखा था, किंतु उनके अनुरूप जीवन जीने वाले के बारे में पहली बार सुना। यही कारण था कि वह गाँधीजी के दर्शन के लिए व्याकुल थीं।

उन्होंने लिखा—"बचपन में मिशनरी बनने की मेरी जो इच्छा हुई थी, मानो उसे उस दिन नई दिशा मिल गई। रचनात्मक आंदोलन—कताई, अस्पृश्यता-निवारण, आरोग्य एवं सफ़ाई तथा उद्योगों द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा में भाग लेने के लिए मैं भारत आने का विचार करने लगी।"

जब उसके मित्रों तथा आत्मीयजनों को पता चला, कैथरीन भारत जाने के विषय में सोच रही है, तो उन्होंने उसे चेतावनी देते हुए कहा था—"काफ़ी कष्ट भोगकर तुम यह मामूली-सी बात सीखना चाहती हो कि काला आदमी भरोसे के लायक नहीं होता। तुम उसकी चाहे जितनी सेवा करो, वह आख़िर तुम्हारी पीठ में छुरा ही घोंपेगा।"

किंतु, उनकी इन बातों से कैथरीन के विचारों में कोई भी परिवर्तन नहीं आया। वसंत के मौसम में एक दिन जब वह सरे के सुन्दर जंगलों में घूम रही थी, अनायास ही उनके हृदय में भारत आने का निश्चय दृढ़ हो गया। उसने गाँधीजी को पत्र लिखकर उनसे अपने आश्रम में प्रवेश देने की अनुमति माँगी। किंतु, बापू ने इससे पूर्व भी देखा था—पश्चिम के बहुत से लोगों ने भारतीय सभ्यता-संस्कृति को अपनाने तथा सेवा भाव से आश्रम में प्रवेश तो लिया, किंतु कुछ समय पश्चात् ही उन्होंने अपने सहकर्मियों के लिए अनेक समस्याएँ खड़ी कर दीं। अतः जब बापू को कैथरीन का पत्र प्राप्त हुआ, तो उन्होंने अपने पिछले कटु अनुभवों के आधार पर उसे भारत आने की सलाह नहीं दी।

इससे भी कैथरीन का भारत जाने का निश्चय डगमगाया नहीं वरन् और भी दृढ़ हो गया। क्योंकि, उसने गाँधीजी के आंदोलन में सहयोग करने का निश्चय किसी भावावेश में नहीं लिया था। वास्तविकता यह थी कि बचपन से ही उसने सरकार तथा शक्ति-सम्पन्न लोगों के जिस अन्याय, अत्याचार एवं उत्पीड़न को

अपने आस-पास होते हुए देखा तथा भोगा था, उससे उसका हृदय विद्रोह से भर चुका था। अतः वह नहीं चाहती थी कि कोई और उस व्यथा-पीड़ा, तथा मानसिक अथवा शारीरिक उत्पीड़न को भोगे। यही कारण था, जब से उसने अपना घर त्यागा, वह सप्ताह की छुट्टी देहातों में असहायों की सहायता करते हुए व्यतीत करती थी। देहाती जीवन के प्रति उनकी रुचि बढ़ती जा रही थी। प्रकृति के सुरम्य वातावरण और शान्तिपूर्ण वातावरण के प्रति उसका आकर्षण बढ़ता जा रहा था। शहर के शोरगुल, जल्दबाजी तथा स्पर्धा से भरे जीवन को देखकर, उसका मन विचलित हो उठता था, वह सोचती थी—क्या मनुष्य इसीलिए पैदा हुआ है?

गाँधीजी का नकारात्मक पत्र आने के बाद, कैथरीन ने भारत की अन्य संस्थाओं तथा वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों को पत्र लिखे, किंतु किसी ने भी उसे आने की सलाह नहीं दी। अन्ततः उसने किसी कार्य विशेष को सीखकर उसमें दक्षता प्राप्त करने का निश्चय किया। सरला बहन बताती थीं—"मैंने प्रसूति-कार्य का प्रशिक्षण लेने का निश्चय किया, जिससे मैं गर्भवती महिलाओं एवं उनके परिवारजनों की सहायता कर सकूँ। मैंने एक प्रशिक्षण संस्था में दाख़िला ले लिया। मुझे विश्वास था कि यदि मुझे किसी कार्य विशेष में दक्षता प्राप्त होगी, तो मुझे बापू के आश्रम में आसानी से प्रवेश मिल जाएगा, क्योंकि उनका उद्देश्य भी लोगों को जागरुक करके उनकी सहायता करना है।"

प्रशिक्षण के साथ ही कैथरीन ने पत्राचार परीक्षा के माध्यम से इंटर कॉमर्स की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। इन्हीं दिनों उसने पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा मनोविज्ञान आदि विषयों का भी अध्ययन किया। कैथरीन को टॉलस्टॉय का साहित्य पढ़ना बहुत पसन्द था। टॉलस्टॉय के विचारों से वह इतनी प्रभावित थी कि उनके दर्शन की छाप हमें कैथरीन के व्यक्तित्व में भी झलकती दिखाई देती है।

सबसे नकारात्मक उत्तर पाकर यद्यपि कैथरीन आहत अवश्य हुई; किंतु फिर भी उसे विश्वास था, वह अपने सपनों के देश भारत अवश्य जाएगी। अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कैथरीन ने पूर्ण समर्पणभाव से अपने ज्ञानक्षेत्र को विकसित करने का प्रयास करना प्रारम्भ कर दिया। यह वह शाश्वत सत्य है, जब कोई व्यक्ति अपने मन में कुछ करने का निश्चय कर लेता है और उसके लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्न भी करता है, तो एक-न-एक दिन उसे सफलता अवश्य प्राप्त होती है। उसकी इसी दृढ़निश्चयता का ही परिणाम था, कुछ समय पश्चात् कैथरीन को उदयपुर से डॉ. मोहन सिंह मेहता का पत्र प्राप्त हुआ; वह एक

समाजसेवी थे; जो अपने विद्यार्थी जीवन से ही समाज के प्रति समर्पित थे। समाज-सुधार के उद्देश्य से ही वे नौकरी के साथ स्काउटिंग और कैम्पिंग आदि कार्य किया करते थे। उन्होंने कुछ युवा कार्यकर्त्ता भी तैयार किए थे; जिनके साथ मिलकर वे शिक्षा के क्षेत्र में एक नया प्रयोग करना चाहते थे। इसके लिए वह उदयपुर में एक नए क्रान्तिकारी स्कूल की स्थापना कर रहे थे।

अतः डॉ. मेहता चाहते थे कैथरीन भी उसमें शामिल हो। जब कैथरीन को उनका आमन्त्रण पत्र मिला, उसे पढ़कर कैथरीन की खुशी का ठिकाना न रहा; क्योंकि वह दीर्घकाल से प्रतीक्षा कर रही थी कि उसे अपने सपनों के देश-भारत से निमंत्रण मिले। किंतु, जब उसने डॉ. मेहता के पत्र के विषय में गम्भीरता से सोचा तो उसे लगा, वह मुझे जिस कार्य के लिए बुला रहे हैं, वह तो मैंने किया ही नहीं और मेरा उद्देश्य किसी भी कार्य के बहाने भारत जाना नहीं है, मैं तो गाँधी के अहिंसा आंदोलन से जुड़कर उनके साथ कार्य करना चाहती हूँ। कैथरीन ने डॉ. मेहता को स्पष्टतः लिखा—"मुझे शिक्षण कार्य का कोई भी अनुभव प्राप्त नहीं है।"

इसके उत्तर में डॉ. मेहता ने उसे आग्रह पूर्वक पत्र भेजा, जिसमें लिखा था—"मैं तुम्हारे विषय में सबकुछ जानता हूँ, और मुझे अपने काम के लिए तुम जैसे लोगों की ही ज़रूरत है।"

सरला बहन प्रारम्भ से ही अपने कर्त्तव्यों के प्रति इतनी निष्ठावान थीं कि जब भी उन्हें कोई दायित्व सौंपा जाता था, वह पूर्ण निष्ठा से उसका निर्वहन किया करती थीं। अतः जब कैथरीन ने पत्र के माध्यम से डॉ. मोहन सिंह के मन में अपने प्रति अपार विश्वास को देखा, तो उसने प्रसूति-प्रशिक्षण के कार्य को बीच में ही छोड़कर 'मार्गरिट मैकमिलन बालवाड़ी, डेटफर्ट' में तीन महीने तक बाल-शिक्षण का प्रशिक्षण लिया।

भारत आने के लिए अपना पासपोर्ट बनवाने में भी कैथरीन को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा। दिसम्बर में यार्कशायर के तट पर क्रिसमस मनाकर कैथरीन 4 जनवरी 1932 को भारत आने के लिए लिवरपूल से जहाज पर रवाना हुई। समुद्री मार्ग में पहले उसे समुद्री तूफ़ान का सामना करना पड़ा, उसके बाद मल्लाह बीमार पड़ गया; इतना ही नहीं रंगभेद का तमाशा देखने का प्रत्यक्ष अनुभव भी उसे इसी जहाज में मिला। जहाज में कैथरीन ने रेडियो में यह समाचार सुना कि बम्बई (अब मुम्बई) पहुँचने पर गाँधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया है। यह ख़बर सुनकर वह यद्यपि आहत हुई, किंतु उसके उत्साह में तनिक भी अन्तर

प्रयोगों के विषय में पढ़ने का अवसर भी मिला; स्वाध्याय के माध्यम से उसने जाना, दक्षिण अफ्रीका में गाँधी जी आश्रम के बच्चों को स्वयं ही पढ़ाया करते थे। कैथरीन को यह जानकर बहुत अच्छा लगा कि गाँधीजी शिक्षा को पढ़ने-लिखने और इतिहास-भूगोल आदि के ज्ञान तक ही सीमित नहीं रखना चाहते। उनके लिए शिक्षा का अर्थ था—सम्पूर्ण जीवन-पद्धति। उनकी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य-लोगों को आत्मनिर्भर बनाना, तथा शिक्षा के माध्यम से अहिंसक जन-सेवक तैयार करना था। अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने अनेक स्थानों पर ऐसे विद्यापीठों की स्थापना भी की थी, जहाँ अनेक रचनात्मक कार्यक्रम भी चलाए जाते थे तथा जिसमें बच्चे पढ़ाई-लिखाई के साथ-साथ अपने सभी कार्य स्वयं किया करते थे।

जब कैथरीन अपना देश छोड़कर उदयपुर आई थी, तब उसने सोचा था मैं गाँधी जी द्वारा स्थापित विद्यापीठ जैसे ही किसी विद्यालय में कार्य करने जा रही हूँ। किंतु, जब वह मसूरी से उदयपुर वापस लौटी तो उसने अनुभव किया, कि विद्याभवन की स्थापना भी शिक्षापद्धति में सुधार करने के उद्देश्य से ही की गई है। उन्होंने अपने विद्यालय के लिए कोई सरकारी मान्यता भी नहीं माँगी है; उनका अपना ही पाठ्यक्रम है; शिक्षा का माध्यम भी हिन्दी है; किंतु सबकुछ होते हुए भी उनका पाठ्यक्रम व्यावहारिक नहीं था।

कैथरीन यह देखकर भी बहुत आहत हुई कि वहाँ की पाठशाला के अधिकांश बच्चे दरबारियों के हैं; जो अत्यधिक लाड़-प्यार के कारण ज़िद्दी तथा अहंकारी हो गए थे; जबकि आम बच्चे उनसे अधिक बुद्धिमान तथा विनम्र थे। इसके अतिरिक्त वहाँ केवल मध्यम वर्ग तक के बच्चे ही प्रवेश ले सकते थे। परंतु, उस पाठशाला में निर्धन बच्चों को दाख़िला नहीं दिया जाता था। जब भी वह बच्चों के साथ घूमने निकलती थी, तो गाँव के बच्चों और अन्य बच्चों के रहन-सहन तथा खान-पान में अन्तर देखकर वह बहुत दुःखी होती थी। 'सूखे रोग' से पीड़ित, भूखे-नंगे, अधनंगे, धूल में खेलते, झगड़ते बच्चों को देखकर उसका हृदय तड़प उठता था और वह मन-ही-मन सोचती थी—'मैं तो इन्हीं बच्चों की सेवा के लिए भारत आई थी, लेकिन इनके लिए कुछ भी नहीं कर पा रही हूँ।'

यद्यपि, कैथरीन ने थोड़ी-बहुत हिन्दी सीख ली थी, फिर भी उसकी प्रबल इच्छा थी कि वह ठीक से हिन्दी लिखना-पढ़ना तथा कताई-बुनाई करना सीख ले। किंतु, जिस पाठशाला में वह पढ़ाती थी, वहाँ कताई-बुनाई की कक्षा नहीं चलती थी। उसने अपनी व्यथा को इस प्रकार व्यक्त किया है—''एक बार मैंने पूछा—यहाँ कताई क्यों नहीं सिखाई जाती? तो कहा गया—'समय नहीं है, हमें

पाठ्यक्रम पूरा करना पड़ता है।' मैंने कहा—"लेकिन, कम-से-कम मैं तो हिन्दी और कताई सीख सकती हूँ? 'नहीं, आप हिन्दी और कताई सीखने नहीं आई हैं; हिसाब करने और छात्रावास सँभालने आई हैं। इसलिए आपको अपने बारे में नहीं सोचना चाहिए। आप तो सेवा करने आई हैं।"

किसी ने कैथरीन के अकेलेपन की तनिक भी परवाह नहीं की, और न ही किसी को यह ख़्याल आया कि अजनबी देश में, अनजानी भाषा एवं बोली बोलने वालों के बीच वह अपना ख़ाली समय कैसे बिताती होगी? उन लोगों के रूखे व्यवहार को देखकर कैथरीन को अपने मित्रों की वे बातें याद आने लगीं, जो उन्होंने उनके भारत आने के निर्णय को सुनकर, उन्हें चेतावनी देते हुए कही थीं। किंतु बढ़े हुए कदमों को रोकना कैथरीन की फ़ितरत नहीं थी। अतः वह उनकी मेवाड़ी तथा खड़ी बोली को समझने एवं बोलने का प्रयत्न करने लगी। वह बच्चों को अंग्रेज़ी भाषा तथा उसका व्याकरण सिखाती थीं और स्वयं हिन्दी भाषा और उसका व्याकरण सीखती थीं।

उन दिनों भारतवर्ष के अन्य गाँवों की तरह ही उदयपुर में भी अस्पृश्यता और रूढ़िवादिता का बोलबाला था। कैथरीन बच्चों से अत्यन्त स्नेह किया करती थी। यही कारण था, बच्चे भी उससे बहुत प्रेम किया करते थे। एक बार जब पाठशाला में तीन दिनों तक चलने वाले वार्षिकोत्सव के अन्तिम दिन, सामूहिक भोज के अवसर पर एक छोटा-सा बालक उसे हाथ पकड़कर ले गया, और अपने साथ बैठने का आग्रह करने लगा, तो वह बच्चे के आग्रह को ठुकरा न सकी।

वहाँ उपस्थित लोगों को कैथरीन का उस बच्चे के साथ जाकर उस पंक्ति में बैठना अच्छा नहीं लगा। उन्होंने लिखा है—"एक शिक्षक ने आकर मुझसे सामने वाली पंक्ति में चलकर बैठने को कहा। हम दोनों ने विरोध किया, लेकिन उसने कहा—'यहाँ जाति (उच्चजाति) के लोग बैठेंगे। आप यहाँ नहीं बैठ सकतीं।' यह सुनकर मुझे बहुत ठेस पहुँची। सामान्यतया मुझे रोना नहीं आता, लेकिन उसका व्यवहार देखकर मैं भागकर सीधे अपने कमरे में चली गई, और वहाँ फूट-फूटकर रोई, सोचने लगी—क्या मैं इसीलिए भारत आई हूँ?"

जिस प्रकार पुष्प की सुगन्ध को बिना प्रयत्न किए भी अनुभव किया जा सकता है, उसी प्रकार निःस्वार्थभाव से की जा रही सेवा को भी लोगों का हृदय सहज ही अनुभव कर लेता है; वह भी दृष्टि से छिप नहीं पाता। संवेदनशील लोगों ने भी कैथरीन के मानव प्रेम और सेवाभाव को उसके बिना कुछ कहे ही महसूस कर लिया था और स्वाभाविक रूप से कैथरीन के प्रति लोगों के हृदय

में आत्मीयता बढ़ती चली जा रही थी।

यही कारण था कि जब वहाँ बैठे हुए लोगों ने कैथरीन को आहत होकर इस तरह अपने कक्ष की ओर जाते देखा, तो वे बहुत दुःखी हुए। उस समय उन लोगों का सभा के बीच से उठकर जाना सम्भव नहीं था; किंतु बाद में वे लोग उसके पास गए और उन्होंने कैथरीन को सांत्वना दी। बातचीत के बीच जब कैथरीन को उन लोगों से यह पता चला, गाँधीजी अस्पृश्यता निवारण के लिए कृतसंकल्प हैं तथा इसके लिए उन्होंने विद्याभवन में न केवल उपवास किया, बल्कि दूसरों की गन्दगी भी साफ की तथा जिन्हें लोग अछूत समझते थे उन लोगों को गले भी लगाया; तो उसकी खुशी का ठिकाना न रहा।

उदयपुर में रहकर कैथरीन ने भारतीय समाज में व्याप्त अस्पृश्यता के अतिरिक्त भी अनेक बुराइयों के विषय में जाना; उनमें से अशिक्षा, पर्दाप्रथा, नशाख़ोरी प्रमुख थीं। समाजसेवी मनोहर सिंह मेहता (मोहनसिंह मेहता के रोवर) के साथ उन्हें आदिवासी भीलों के बीच जाने का अवसर भी मिला; (एक बार अकाल के समय मनोहर सिंह ने वहाँ के भीलों के बीच राहत कार्य किया था) उस समय वे भीलों के बीच नशाबंदी का कार्य कर रहे थे। एक बार छुट्टियों में जब कैथरीन मनोहर सिंह के साथ उदयपुर के ही किसी गाँव में सेवाकार्य के लिए गई हुई थीं, तब उन्होंने जाना कि जब हम निःस्वार्थभाव से किसी की सहायता करते हैं, तो वे हम पर कितनी आसानी से अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तत्पर हो जाते हैं।

उदयपुर में बच्चों के बीच कार्य करते हुए ही कैथरीन ने बालमनोविज्ञान को समझा और यह जाना कि बचपन में बड़ों से सुनी हुई बातें किस प्रकार बच्चों के मन में जाति तथा वर्गगत भेदभाव की भावना किस कदर घर कर जाती है, कि वे दुर्भावनाओं के जाल में पूरी तरह से उलझ जाते हैं। वास्तव में बच्चों का पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश तथा वातावरण ही भविष्य को सकारात्मक अथवा नकारात्मक दिशा प्रदान करता है। यही कारण था कि रूढ़िवादी लोगों की परवाह किए बिना उन्होंने तैराकी के शौक़ीन बच्चों के साथ तालाब में स्वयं तैराक़ी की और उन्हें तैरना सिखाया। उसके बाद एक तैराक़ी समारोह का आयोजन किया; जिसे लोगों ने बहुत सराहा। उनकी तालियों की गड़गड़ाहट से बच्चों का मनोबल भी बढ़ा। कैथरीन बच्चों से जितना प्रेम करती थी, बच्चे उसे उससे भी अधिक प्रेम किया करते थे।

भारत आकर अपने स्वभाव की इसी निश्छलता, आत्मीयता एवं सरलता

के कारण न जाने कब वह कैथरीन से 'सरला' बन गई, यह उसे स्वयं भी याद नहीं था। जब पहली बार गाँधी जी से उसकी भेंट हुई, तब अपना परिचय देते उसने कहा था—"कुछ लोग मुझे सरला कहते हैं।" आजीवन वे सरला बहन के नाम से ही संबोधित होती रहीं; आज भी उसकी पालित पुत्रियाँ और आश्रमवासी बहनें ही नहीं, समस्त भारतवासी भी उन्हें सरला बहन या सरला बेन के नाम ही से जानते हैं।

कुछ समय बाद संस्था के द्वारा सरला बहन को समाजसुधार के कार्यों का दायित्व भी सौंप दिया गया, जबकि वह भारत केवल इसलिए आई थीं, ताकि गाँधी जी के रचनात्मक कार्यों में सक्रिय भूमिका निभा सकें। जब सामाजिक सुधार के कार्य करते हुए उन्हें दो महीने हो गए, तब एक दिन उन्होंने डॉ. मोहन सिंह मेहता से कहा—"मैं इन्हीं सब कार्यों में फँसी नही रहना चाहती। कृपया मुझे आगे बढ़कर कुछ और करने का मौका दीजिये।"

यह सुनकर उन्होंने सख़्ती से उत्तर दिया—"अगर आप हमारे साथ यह सब काम नहीं कर सकतीं, तो हम आपके विलायत जाने की व्यवस्था कर देंगे। जब तक आप यहाँ के मौसम, खान-पान, बोली-भाषा तथा सामाजिक परिस्थितियों में अच्छी तरह रहने लायक नहीं हो जातीं, तब तक हम आपको मनमाने ढंग से इधर-उधर नहीं भटकने देंगे।"

सरला बहन अब अपने देश लौटना नहीं चाहती थीं, उन्होंने डॉ. मेहता की कही बातों के अर्थ को समझा और उनके द्वारा बताए गए कार्यों को मन लगाकर करने लगीं। सरला बहन का मन इस बात से दुःखी हो उठता था कि यद्यपि सामाजिक सुधार के लिए अनेक कार्य किये जा रहे हैं, फिर भी वे कार्य सामाजिक बुराइयों को जड़ से मिटाने में समर्थ नहीं हो रहे हैं। वैचारिक भिन्नता के कारण उनका विद्या भवन के वातावरण से समझौता करके रहना कठिन होता जा रहा था। लगभग चार वर्ष इसी तरह पाठशाला एवं छात्रावास में बच्चों के साथ रहने, उन्हें पढ़ाने तथा समाज सुधार के कार्य करवाने के पश्चात् सरला बहन को रियासत के संकुचित वातावरण से निकलकर उत्तर भारत के विभिन्न भागों को देखने का अवसर मिला।

छुट्टियों के दिनों में वह, विभिन्न स्थानों में शिक्षा के प्रयोग आदि देखने जाती थीं। कुछ समय उन्हें भावनगर, दक्षिणामूर्ति में रहने का अवसर भी मिला; वहाँ का अनुभव उनके लिए आनन्ददायी रहा। वहाँ मॉन्टेसरी से लेकर हाई स्कूल तक की शिक्षा गाँधीजी के विचारों के अनुसार चलती थी। उनका यह प्रयोग

पूर्णतः सरकार-निरपेक्ष था; क्योंकि उनका उद्देश्य युवाओं में देशप्रेम की भावना जाग्रत कर, उन्हें भारत माँ की सेवा करने के लिए अभिप्रेरित करना था। उन दिनों अभिभावक अपने बच्चों को स्वयंसेवक बनाने के उद्देश्य से ही दक्षिणामूर्ति भेजा करते थे; जिससे कि उनके बच्चे राष्ट्रसेवा के योग्य बन सकें।

एक बार जब सरला बहन की सखी सीलिया, उनके साथ काम करने भारत आ रही थी, तो वह उसको लेने बम्बई गई। संयोग से उस समय वहाँ काँग्रेस का वार्षिक आधिवेशन चल रहा था। गाँधीजी सीलिया को जानते थे; क्योंकि जब सीलिया किंग्जलेहॉल में काम किया करती थी, तब वे वहाँ ठहरे थे। सरला बहन सीलिया के साथ काँग्रेस के शिविर में गईं; किंतु उस दिन उनकी मुलाकात गाँधीजी से नहीं हो सकी। सन् 1934 में जेल से छूटने के बाद से बापू वर्धा में ही थे, उन दिनों वर्धा राष्ट्रीय आंदोलन का केन्द्र बना हुआ था। जब से सरला बहन को इस बात की जानकारी मिली, तब से वह वर्धा जाने के लिए और भी अधिक उत्सुक हो उठीं; किंतु कार्य की व्यस्तता के कारण उनके वर्धा जाने में बिलम्ब हो रहा था।

उन दिनों सरला बहन कन्या पाठशाला में काम किया करती थीं। अतः वर्धा के महिला आश्रम को देखने की उनकी प्रबल इच्छा थी; ताकि वहाँ से कन्या पाठशाला के लिए कुछ मार्गदर्शन मिल सके। अन्ततः 1935 में उन्होंने दशहरे की छुट्टियों में वर्धा आकर महिला आश्रम का काम देखने तथा बापू से मिलने का निश्चय किया। इसी आशय से उन्होंने वर्धा आश्रम के व्यवस्थापक को एक पत्र लिखा; किंतु उनके पत्र का कोई उत्तर नहीं आया। इससे वह कुछ निराश तो अवश्य हुईं; लेकिन फिर भी उन्होंने अपना वर्धा जाने का निश्चय नहीं बदला और छुट्टियाँ होते ही वे वहाँ से वर्धा की ओर चल पड़ीं। रास्ते में उन्होंने आश्रम को अपने पहुँचने के विषय में तार भी भेज दिया था। जब गाँधीजी को कैथरीन के वर्धा पहुँचने की सूचना मिली, तो उन्होंने अपने एक सहयोगी कनुभाई को उन्हें लेने वर्धा स्टेशन भेजा; वह नहीं चाहते थे, कैथरीन को आश्रम पहुँचने में कोई कष्ट हो।

उन दिनों बापू वर्धा के मगनवाड़ी आश्रम में रहते थे; मगनवाड़ी भारतीय ग्रामोद्योगों का प्रधान केन्द्र था। कनुभाई के साथ जब वह मगनवाड़ी पहुँचीं, तब तक रात हो चुकी थी। अतः उस दिन उनकी मुलाक़ात बापू से नहीं हो सकी। वह सुबह जल्दी उठ जाया करती थीं। प्रातःकाल जब वह उद्यान में टहल रहीं थीं, तब पहली बार बापू से उनकी मुलाक़ात हुई। बापू के प्रथम दर्शन के विषय

में उन्होंने लिखा है—''छोटा पुष्ट बदन, सिर मुंडा हुआ, छोटी धोती। वे बदन पर सूती चादर ओढ़े हुए थे। वे बड़े प्रेम के साथ सहज ढंग से मिले। उनसे मिलकर लोगों को ऐसा प्रतीत होता था, जैसे वे चिरपरिचित हों।''

वहाँ रहते हुए बिना काम किए जब सरला बहना के दो दिन व्यर्थ व्यतीत हो गए, तो तीसरे दिन प्रातःकालीन प्रार्थना के पश्चात् उन्होंने बापू से कहा—''मुझे आपसे एक शिकायत है; आपने मुझे काम देने को कहा था, लेकिन अभी तक आपने मुझे कोई काम नहीं दिया।''

बापू बोले—''लेकिन, तुम सबके साथ इतनी अच्छी तरह मिल-जुलकर रह रही हो, क्या यह कम काम है?''

''नहीं, यह काम नहीं है, यह तो स्वाभाविक है'' सरला बहन बोलीं।

''अच्छा ठीक है। यदि तुम्हें इससे संतोष नहीं है, तो इस समय सफाई की टोली में शामिल हो जाओ। वहाँ से लौटकर नहा-धोकर मेरे पास आना।''

बापू की आज्ञा के अनुसार वह टोली में शामिल होकर गाँव की ओर चल दीं। अपने साथियों के साथ सफ़ाई में सहयोग करने के लिए वह फावड़े से मैला उठाकर बाल्टी में डालती रहीं। उन दिनों भारत के गाँवों में शौचालय का प्रचलन नहीं था, अतः लोग शौच के लिए खुले स्थानों का ही प्रयोग किया करते थे। बापू की आज्ञा का पालन करने के लिए वह अपनी टोली के साथ लोगों का पाखाना साफ़ करती रहीं; किंतु गाँव के लोगों के व्यवहार से वह बहुत खिन्न हुईं।

अपने संस्मरण में उन्होंने लिखा—''हमें आते हुए देखकर लोग, थोड़ा आगे जाकर बैठ जाते थे और फिर हमसे कहा करते थे—''वहाँ भी सफाई की ज़रूरत है।'' मैं मानती हूँ, भारत के ग्रामीण जीवन में सफाई एक बहुत बड़ी समस्या है; लेकिन उसकी पद्धति के बारे में मेरा ख्याल है कि इसमें गाँव के लोगों को भी शामिल करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे शौचालयों की योजना बनाई जानी चाहिए, जिससे पाखाना उठाने की आवश्यकता ही न पड़े। यदि लोग यही समझते रहेंगे कि समाजसेवक के रूप में सफाई करना केवल हमारा ही कर्त्तव्य है, तो गाँव के लोग सफाई के महत्त्व को कभी नहीं समझ पाएँगे।''

सफ़ाई के उपरान्त गाँव से लौटकर, नहा-धोकर वह बापू के पास चली गईं। बापू ने उन्हें एक मुट्ठी कपास देकर कहा—''इसे साफ करो, और यह ख्याल रखना, इसमें कूड़ा-कचरा क़तई न रहने पाए।''

दूसरे दिन जब उन्होंने कपास साफ करके बापू को दिया, तो बापू ने उसे

देखा और फिर साफ़ किया हुआ कपास किसी अन्य व्यक्ति को ओटने के लिए दे दिया। उसके बाद उन्होंने सरला बहन को साफ़ करने के लिए कुछ और कपास दे दी। उस कपास में पहले दिन दिए गए कपास से भी अधिक कचरा था। बापू ने पुनः निर्देश दिया—"इसे साफ़ करो, और यह ख़्याल तो रखना ही है कि इसमें कचरा न रह जाए।" इस तरह बापू, अप्रत्यक्षतः सरला बहन की सहनशीलता एवं परिश्रम की परीक्षा ले रहे थे।

अपनी इस परीक्षा में वह खरी उतरीं। दूसरे दिन जब सरला बहन ने साफ़ किया हुआ कपास बापू को दिया, तो उन्होंने रुई धुनवाकर तथा पूनी बनवाकर उन्हें एक तकली और एक तकली-शिक्षिका दे दी। अपनी शिक्षिका से उन्होंने तल्लीनता से सूत कातना सीखा। उनकी लगन एवं सेवाभाव से गाँधीजी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इस पहली मुलाक़ात में ही उन्हें अपनी शिष्या बना लिया। वह आजीवन स्वयं सूत कातती रहीं, तथा औरों को भी सिखाती रहीं।

दशहरे की छुट्टियों के बाद वे विद्याभवन लौट आईं।

मगनवाड़ी में बापू, जे.सी. कुमारम्पा (अर्थशास्त्री), तथा कस्तूरबा गाँधी जैसी विभूतियों के संपर्क में आने के बाद सरला का मन उदयपुर में नही लग रहा था। उनके चरित्र की एक बहुत बड़ी विशेषता यह भी थी कि जब वह कुछ करने का निर्णय ले लेती थीं, तो वह उसे पूरा करके ही दम लेती थीं और दूसरी विशेषता यह थी कि वह अपने सिद्धान्तों से कभी समझौता नहीं करती थीं। यही कारण था कि प्रारम्भ से ही उनका मन उदयपुर में नहीं लग पा रहा था। वहाँ के विपरीत वातावरण में रहना उनके लिए दुष्कर होता जा रहा था। दरअसल वह तो गाँधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में सहभागिता करने का स्वप्न संजोए भारत आई थीं; किंतु उसे सामाजिक सुधार संबंधी वे कार्य करने पड़ रहे थे। जिनसे उनका कोई सरोकार नहीं था।

जब सरला बहन को यह अनुभव होने लगा कि यहाँ रहकर मुझे सदैव अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने पड़ेंगे, तो उन्होंने 1936 में गर्मी की छुट्टियों में विद्याभवन को छोड़ने का निर्णय लिया। सरला बहन गाँधीजी की पद्धति से मजदूरों के बीच कार्य करना चाहती थीं; इसके लिए सर्वप्रथम उन्होंने अहमदाबाद मजदूर संघ को पत्र लिखकर उनकी सहमति माँगी। किंतु, वहाँ से कोई उत्तर नहीं आया। सरला बहन ने जब उदयपुर छोड़कर जाने का निर्णय डॉ. मोहन सिंह मेहता को सुनाया, तो वे समझ गए कि अब वे यहाँ नहीं रुकेंगी; अतः उन्होंने रोकने का प्रयत्न भी नहीं किया।



सरला बहन के साथ सर्वोदय कार्यकर्ता।



चित्र :लक्ष्मी आश्रम, सरला बहन के साथ उनके साथ की सहयोगी मंडली, जिसमें यशोदा, कांति भट्ट, राधा भट्ट एवं माया फुलोरिया शामिल है।



सरला बहन अनासक्ति आश्रम, कौसानी में : 28 जून 1981।
चित्र में स्वतंत्रता संग्राम सेनानी विधाधर वैष्णव अपनी पत्नी के साथ।



तत्कालीन उ.प्र. के मुख्यमंत्री श्री वी.पी. सिंह, श्री बाँकेलाल कंसल, राधा बहन और निर्मला, सरला बहन की अस्वस्थता के दौरान आनंद निवास, नैनीताल, मई 1982।

स्त्री-शिक्षा में विशेष रुचि होने के कारण उन्हीं दिनों जमुनालालजी को नीमच में एक कन्या पाठशाला का व्यवस्थापक बनाया गया था; अतः उन्होंने सरला बहन को एक पत्र लिखकर नीमच आने का प्रस्ताव भेजा। किंतु, वे शिक्षा-संबंधी विचारों में तालमेल न बैठने के कारण कन्या पाठशाला में सहयोग देने नीमच नहीं गयीं। इसके विपरीत मजदूर संघ से पत्र का उत्तर न मिलने पर भी अपना सामान लेकर अहमदाबाद चली गईं।

गुजराती भाषा का ज्ञान न होने के कारण, उन्हें लोगों से विचारों का आदान-प्रदान करने में बहुत कठिनाई हो रही थी; इसलिए अहमदाबाद आकर उन्होंने गुजराती सीखने का प्रयास किया। वहाँ उन्हें मजदूरों की बस्ती में रहकर सेवाकार्य करने का सुझाव दिया गया। यह सत्य है कि किसी के जीवन को जानने के लिए, उनके बीच में रहकर कार्य करने से अच्छा कोई प्रयोग नहीं है; किंतु सेवा करने के लिए किसी भी व्यक्ति के शरीर और चित्त दोनों का स्वस्थ होना भी उतना ही आवश्यक है। यही सोचकर सरला बहन ने मजदूरों की बस्ती में रहना स्वीकार नहीं किया; क्योंकि वहाँ सैकड़ों बच्चों के चीखने-चिल्लाने, लड़ने-झगड़ने की आवाज़ों के बीच रह पाना उनके लिए कठिन था।

कुछ दिन मज़दूरों की बस्ती और बालवाड़ी में काम करने के पश्चात्, उन्हें अस्पताल की व्यवस्था का कार्य सौंपा गया; क्योंकि मजदूर संघ के लोग डॉक्टर के व्यवहार एवं कार्यों से संतुष्ट नहीं थे। यद्यपि सरला बहन को दवाइयों का न कोई ज्ञान था न अनुभव; फिर भी डॉक्टर की सहायता करते हुए तथा उसको कार्य करते देखकर, धीरे-धीरे वह दवाइयों के बारे में काफ़ी सीख गईं। वहाँ का वातावरण सरला बहन के लिए अनुकूल नहीं था। गन्दगी इतनी थी कि उनका पेट ख़राब रहने लगा। कुछ समय उन्हें उसी अस्पताल के सामान्य कक्ष में भर्ती रखा गया, किंतु स्वास्थ्य में बिल्कुल भी सुधार नहीं हो सका, अन्ततः उन्होंने उपचार के लिए अपने डॉक्टर मित्र के पास बम्बई जाने का निश्चय किया और चली भी गईं। उचित उपचार मिलने से शीघ्र ही वे स्वस्थ हो गईं।

उन दिनों जमुनालाल जी बम्बई में थे। जब उन्हें सरला बहन के अस्वस्थ होने की सूचना मिली, तो उन्होंने उनके स्वास्थ्य और भविष्य की योजना के विषय में जानने के लिए फोन किया। तब तक वे कुछ स्वस्थ हो चुकी थीं; किंतु अपने भविष्य को लेकर अनिश्चय की स्थिति में थीं। जमुनालाल जी ने उन्हें अपने साथ वर्धा चलने का सुझाव दिया; किंतु पूर्णतः स्वस्थ न होने के कारण वे उनके साथ न जा सकीं और उन्हें स्वस्थ होने के पश्चात् वर्धा आने का वचन दिया।

इस बीच बापू मगनवाड़ी से सेवाग्राम चले गए थे। स्वास्थ्य लाभ के बाद जब सरला बहन वर्धा पहुँचीं, तब वे एक बैठक में शामिल होने के लिए सेवाग्राम से वर्धा आए हुए थे। बैठक के पूर्ण होते ही जब बापू कक्ष से बाहर आए, तो उन्होंने सरला बहन को अपनी प्रतीक्षा करते हुए देखा। बापू को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि वे स्वस्थ होकर पुनः उनके साथ काम करने आयीं; व्यस्तता के कारण उन्होंने सरला बहन को कुछ दूर तक अपने साथ चलने को कहा। रास्ते में वे उन्हें ज्यादातर खुराक और स्वास्थ्य के विषय में सलाह देते रहे। बापू ने जो खुराक उन्हें लेने को कहा उस पर लगभग तीस रुपया माह ख़र्च आता था। जबकि उन दिनों विनोवाजी के कार्यकर्त्ताओं को मात्र चार रुपया मासिक ख़र्च मिला करता था। अतः उन्हें बापू के इस सुझाव से लेशमात्र भी प्रसन्नता नहीं हुई और वैसे भी वह दिन-प्रतिदिन अपना जीवन गाँधीजी की तरह और भी अधिक सादगीपूर्ण बनाती जा रही थीं।

सरला बहन वर्धा में महिला आश्रम में रहने लगीं। आश्रम में कार्य करते हुए उन्होंने अनुभव किया कि वहाँ का वातावरण आनंदपूर्ण नहीं है; वहाँ लड़कियाँ केवल भय के वशीभूत अनुशासन से कार्य करती हैं; उनमें श्रमनिष्ठा लेशमात्र भी नहीं है और इसका मुख्य कारण था—जीवन और शिक्षा में परस्पर कोई संबंध का न होना। इसके विपरीत यद्यपि बापू के आश्रम में सादगी थी, वहाँ ख़र्च भी कम किया जाता था; फिर भी बापू के चारों ओर उल्लासमय वातावरण रहता था। अतः धीरे-धीरे सरला बहन ने अपने साथियों के सहयोग से गाँधीजी की शिक्षा-पद्धति को अपनाकर, वहाँ के वातावरण को गाँधीजी के मनोनुकूल बनाने का प्रयत्न किया और अपने इस प्रयास में वह सफल भी हुईं। बापू की तरह वह भी ख़ाली समय में सूत कातती रहती थीं, तथा आश्रम की बहनों को भी सूत कातना सिखाती थीं।

कुछ समय पश्चात् आवश्यकता अनुभव होने पर, उन्होंने आश्रम एवं बंगले के बच्चों के लिए एक बालवाड़ी भी प्रारम्भ कर दी। बालवाड़ी का अनुभव उनके लिए अत्यन्त सुखद रहा। उन्हें संस्थागत शिक्षण से अधिक गाँवों में जाकर लोगों को व्यावहारिक शिक्षा देना अधिक रुचिकर लगने लगा। वह हमेशा गाँवों की उन्नति के विषय में सोचा करती थीं तथा अपने संपर्क में आनेवाले लोगों से कहतीं—"मेरे लिए किसी गाँव में रहने की व्यवस्था कर दीजिये।" इस विषय में जब उन्होंने बापू से चर्चा की, तो उन्होंने एक व्यावहारिक प्रयोग करने के लिए उन्हें अनुमति दे दी।

धीरे-धीरे जब वर्धा की संस्था विकसित हो गई, वहाँ अखिल भारतीय स्तर पर प्रशिक्षण शिविर भी लगने लगे, तो सरला बहन गाँधीजी के पास सेवा ग्राम चली गईं; ताकि हमेशा उनकी सलाह और मार्गदर्शन मिल सके।

जब भी कोई सरला बहन से उनके भारत आने के बारे में बातें किया करता था, तो ख़ुशी से उनकी आँखें चमक उठती थीं। एक बार उनके किसी साथी ने, जब उनसे भारत आने का कारण जानना चाहा, तो वह मुस्कराती हुई बोलीं—"जब से मैंने गाँधीजी के व्यक्तित्व के विषय में सुना, तभी से मेरे मन में यह अभिलाषा जाग उठी थी कि मैं भी भारत जाऊँ, और बापू के अहिंसा आंदोलन में शामिल होकर क्रान्तिकारियों एवं उनके परिवारजनों की सेवा करूँ, उनके बच्चों को पढ़ना-लिखना सिखाऊँ, तथा महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने में सहयोग करूँ।"

जिन दिनों वे वर्धा महिला आश्रम में सेवाकार्य कर रही थीं, उन दिनों गाँधीजी के परम अनुयायी बिनोवा भावे भी वहीं थे; उन दिनों उनका ध्यान तकली, करघे तथा चरखे के व्यावहारिक सुधार पर केन्द्रित था। वह इनके माध्यम से कताई और बुनाई की गति बढ़ाने के साथ सूत की मजबूती बढ़ाने के विषय में चिन्तन कर रहे थे। सरला बहन भी ग्रामवासियों के प्रति सदैव समर्पित रहीं; वह भी पल-पल उन्हें व्यावसायिक एवं व्यावहारिक ज्ञान देकर आत्मनिर्भर बनाने के विषय में सोचती रहती थीं। एक रोचक घटना का उल्लेख करते हुए वे कहतीं—"एक दिन वे चुपचाप मेरे पास आकर बैठ गए; मैंने बिनोवाजी से पूछा—'मुझसे मोटा सूत क्यों नहीं निकलता?"

उन्होंने प्रशंसा के स्वर में कहा—"आप नौसिखिया हैं और इतना महीन सूत निकालती हैं; इस पर तो आपको ख़ुश होना चाहिए।

किंतु सरला बहन, जिनका ध्यान हमेशा ग्रामवासियों की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए लगा रहता था, बोलीं—"मैं गाँवों में काम करना चाहती हूँ, और गाँव वालों को मोटा कपड़ा चाहिए; इसलिए मुझे मोटा सूत कातना भी आना चाहिए।"

जनसेवा के प्रति उनके समर्पण और निष्ठा के ऐसे अनेक उदाहरण हमें पग-पग पर मिल जाते हैं; जो यह सिद्ध करते हैं, सेवा उनके लिए धन अथवा यशोपार्जन का माध्यम नहीं वरन् उनके जीवन का उद्देश्य था; जिसके लिए वे प्रतिपल समर्पित रहीं।

गाँधीजी की तरह सरला बहन भी महिलाओं को शिक्षित करके उन्हें

आत्मनिर्भर बनाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहीं। आज महिला सशक्तिकरण की बातें करने वाले तथाकथित बुद्धिजीवी लोग स्वयं को आधुनिक समझते हैं; जबकि लड़कियों के पहनावे को लेकर तथा महिलाओं के प्रति उनकी संकुचित मानसिकता हमें उनके क्रियाकलापों, भाषणों तथा अन्य मंचों पर स्पष्ट दिखाई व सुनाई देती है।

इसके विपरीत गाँधीजी ने महिलाओं की कार्यक्षमता को कभी भी पुरुषों से कम नहीं आँका। वे महिलाओं को सामाजिक रूढ़ियों के नाम पर पराधीनता की प्रतीक बेड़ियों में जकड़ा हुआ नहीं देखना चाहते थे। इतना ही नहीं, वह पुरुषों की तरह महिलाओं को यह अधिकार देने के पक्षधर भी रहे कि अन्य क्षेत्रों में स्वतंत्रता होने के साथ ही एक स्त्री को यह अधिकार भी होना चाहिए कि यह अपनी रुचि तथा सुविधानुसार वस्त्र पहन सके। इसका एक उदाहरण हमें सेवाग्राम की इस घटना में भी दिखाई देता है—वर्षा के मौसम में सेवाग्राम में बहुत कीचड़ हो जाया करता था। अतः जब कभी पूरे सप्ताह लगातार वर्षा होती रहती थी, तो भीगी हुई साड़ियों को सुखाना मुश्किल हो जाया करता था, ऐसी स्थिति में सरला बहन कुर्त्ता एवं निकर पहन लिया करती थीं। एक बार सायंकालीन प्रार्थना में, जब वे ऐसी पोशाक पहनकर चली आईं, तो बापू ने लड़कियों से कहा—"देखो! आज सरला बहन ने कितने अच्छे कपड़े पहने हैं।"

इसके विपरीत एक बार जेल से छूटकर जब वे पहली बार साड़ी पहनकर बापू से मिलने पूना गईं, तो उन्होंने यह सोचा था कि उन्हें भारतीय पोशाक में देखकर बापू को प्रसन्नता होगी, किंतु हुआ इसके विपरीत। बापू ने सरला बहन को साड़ी पहने हुए देखकर, उत्सुकता से पूछा—"कौन हैं?"

जब उन्हें पता चला कि वे सरला बहन हैं, तो निराशा ज़ाहिर करते हुए बोले—"अरे! तुम हो? सेवाग्राम में तो कितने अच्छे कपड़े पहनती थी।"

बापू की इस निराशा का कारण स्पष्ट करते हुए सरला बहन ने लिखा है—"लड़कियाँ आज़ादी से जीवन बिताने लायक बनें, इसलिए बापू हमेशा उन्हें साड़ी की जगह जाँघिया (हाफ़ पैंट) और कुर्त्ता पहनने को प्रोत्साहित करते थे। वे उनके बाल कटवाते ही नहीं थे बल्कि मुंडवा तक देते थे। बापू लड़कियों को चूड़ी या किसी अन्य प्रकार का ज़ेवर भी नहीं पहनने देते थे।"

सेवाग्राम में कार्य की अधिकता के कारण सरला बहन को दफ़्तर और हिसाब के अतिरिक्त बच्चों को भी सँभालना पड़ता था; किंतु वहाँ के रचनात्मक शैक्षणिक आंदोलन के विकास तथा बच्चों के विकास को देखकर, सरला बहन का जीवन

अतिव्यस्तता के होते हुए भी आनंद व उल्लास से भरा हुआ था। धीरे-धीरे उनके स्वास्थ्य पर सेवाग्राम के मौसम का कुप्रभाव, पेचिश और मलेरिया के रूप में प्रकट होने लगा। उन्होंने एलोपैथिक तथा आयुर्वेदिक दोनों प्रकार के उपचार लिए, फिर भी कोई लाभ नहीं हुआ। उनके कारण किसी को कोई असुविधा न हो, इसलिए वे पूना अस्पताल में भर्ती होने चली गईं जब डॉक्टर ने उन्हें यूरोपियन वार्ड में भर्ती करना चाहा, तो उन्होंने इस भेदभाव को स्वीकार करने से मना कर दिया। वे कभी भी मानव-मानव के बीच किसी भी प्रकार के जाति अथवा वर्गगत भेदभाव को स्वीकार नहीं कर पाती थीं। इस वर्गीकरण को लेकर डॉक्टर से उनकी बहस होने लगी।

सौभाग्यवश उसी समय जमनालालजी सरला बहन की कुशल पूछने वहाँ आ पहुँचे। उन दिनों पूना में उनका प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति से उपचार चल रहा था; परिस्थिति की विपरीतता को भाँपकर उन्होंने सरला बहन को वहाँ से हटाना उचित समझा और इसी उद्देश्य से उन्होंने पूछा—"क्या आपको प्राकृतिक चिकित्सा में विश्वास है?"

एलोपैथिक चिकित्सा तथा वहाँ की व्यवस्था से खीझ चुकी सरला बहन ने उत्तर दिया—"प्राकृतिक चिकित्सा एलोपैथी से बदतर तो नहीं हो सकती।"

एलोपैथी पर बापू का बिल्कुल भी विश्वास नहीं था। वे निसर्गोपचार में अधिक विश्वास किया करते थे और अस्वस्थ होने पर अक़्सर अपना इलाज प्राकृतिक पद्धति से ही किया करते थे। अतः सरला बहन जमुनालालजी के साथ बापू के विश्वसनीय डॉक्टर दिनेश मेहता के क्लीनिक पर गईं। उनकी सलाह पर, उन्होंने प्राकृतिक चिकित्सालय में रहकर अपना इलाज करवाया। चिकित्सा की यह पद्धति उन्हें अपने मनोनुकूल लगी। धीरे-धीरे जब वे स्वस्थ होने लगीं, तो उन्हें ख़र्च तथा सेवाग्राम के काम की चिन्ता सताने लगी। डॉक्टर ने तीन माह का कोर्स पूरा करने की शर्त पर ही उनका उपचार करना स्वीकार किया था। जैसे-तैसे समझा-बुझाकर उन्हें वहाँ रोका गया। अन्ततः वे सेवाग्राम के लोगों की असुविधा एवं कार्यों की चिन्ता के कारण तीसरे माह के अंत में सेवाग्राम वापस लौट गईं।

पूना के इलाज से उनकी पेचिश तो ठीक हो गई, किंतु मलेरिया ठीक न हो सका। अक़्सर उन्हें बुखार आ जाया करता था, लेकिन वे अपने कार्यों के प्रति इतनी निष्ठावान थीं कि कभी भी अपने कर्त्तव्यों से विमुख नहीं हुईं। तीन-चार घंटे तक बुखार में पड़े रहने के बावजूद, फिर से उठकर वह अपने कार्यों में जुट

जाया करती थीं। सरला बहन महात्मा गाँधी की अंधभक्त थीं। बापू के अंधानुकरण का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है कि मलेरिया से पीड़ित होने पर उन्होंने 'क्विनेन' लेना स्वीकार नहीं किया, क्योंकि बापू एलोपैथी से अधिक प्राकृतिक चिकित्सा पर विश्वास करते थे और उसी का प्रयोग भी किया करते थे। अतः जब डॉक्टर ने उन्हें 'क्विनेन' लेने या 'प्राकृतिक चिकित्सा' कराने की सलाह दी, तो उन्होंने बापू से कहा—''मैं फिर तीन महीने के निसर्गोपचार पर समय और पैसे ख़र्च करूँ, यह मुझे नहीं जँचता; लेकिन मुझे लगता है कि यदि मैं उदयपुर चली जाऊँ, तो अपना इलाज स्वयं कर सकती हूँ।''

इस पर बापू ने कहा—''तुम्हारी व्यावहारिक बुद्धि पर मुझे भरोसा है। इसलिए जैसे मैं अपने विवेक के मुताबिक काम करता हूँ, वैसा तुम्हें भी करने की इजाज़त दे रहा हूँ। तुम अपना इलाज स्वयं करो, मगर हर हफ़्ते डॉक्टर से 'चेकअप' करवाती रहना।''

सरला बहन छुट्टी लेकर उदयपुर चली आईं। वहाँ वे प्रातःकाल घूमना, सूर्य-स्नान करना, तालाब में तैरना, जंगल में जाना तथा अपने हाथों से भोजन बनाकर खाना-ये सभी वह कार्य नियमित रूप से प्रतिदिन किया करती थीं। इससे उनके स्वास्थ्य में लगातार सुधार हो रहा था और साप्ताहिक चिकित्सा-परीक्षण के संतोषजनक परिणाम सामने आने लगे थे, फिर वह सेवाग्राम लौट आईं। किंतु, उन्हें अब भी जब-तब मलेरिया होता रहता था। उनकी अस्वस्थता के कारण गाँधीजी बहुत दिनों से अनुभव कर रहे थे कि ऋतु-परिवर्तन से उन्हें स्वास्थ्य-लाभ हो सकता है, अतः सरला बहन को सेवाग्राम छोड़कर उदयपुर चले जाना चाहिए।

उदयपुर में वे हमेशा स्वस्थ रही थीं, लेकिन राजनीतिक दृष्टिकोण से सेवाग्राम उनके लिए सुरक्षित स्थान था।

ज़िंदगी का यह दौर उनके लिए काफ़ी उथल-पुथल भरा था। एक ओर सेवाग्राम तथा उदयपुर के लोग उनके प्रति इतनी आत्मीयता रखते थे कि उन्हें यह तक याद नहीं रहा, वह विदेशी हैं; क्योंकि जब विदेशी लोगों के नाम दर्ज़ कराए जा रहे थे, उस समय किसी को भी यह ख़्याल नहीं आया कि मीरा बहन की तरह उन्हें भी अपना नाम दर्ज़ करा लेना चाहिए। इसके विपरीत दूसरी ओर, जब उन्होंने बापू के समक्ष उदयपुर में कन्या पाठशाला अथवा किसी गाँव में कार्य करने का सुझाव रखा, तो उन्होंने कहा—''यदि तुम विद्याभवन को छोड़कर किसी अन्य स्थान पर काम करना चाहती हो, तो तुम्हें डॉ. मोहन सिंह मेहता से इजाज़त लेनी पड़ेगी।'' डॉ. मेहता से राय माँगी, तो उन्होंने भी स्पष्ट कह दिया, यदि

आपने ऐसा किया, तो इससे हमारा नुक़सान होगा।

इसके बाद सरला बहन ने सोचा, राजपुताना के पहाड़ों पर अथवा मालवा के पहाड़ी हिस्सों में रहा जा सकता है। चरखा संघ का काम करने के उद्देश्य से उन्होंने राजपूताना चरखा संघ को पत्र लिखा; किंतु उन्होंने मना कर दिया। विडंबना यह थी कि उनके पास आय का कोई स्रोत नहीं था; यद्यपि उनका जीवन अति सादगी भरा था, किंतु फिर भी जीने के लिए धन की आवश्यकता तो थी ही। सब तरफ से निराश होकर उन्होंने जमुनालाल जी से अनुरोध किया—"क्या आप ख़र्च के लिए तीस रुपया माहवार देकर, बैतूल के आस-पास मेरे बसने की व्यवस्था कर सकेंगे।" उन्होंने भी इंकार कर दिया। इस बीच उनके एक मित्र ने उन्हें मालावार के पहाड़ों में काम करने का निमंत्रण दिया, किंतु नई भाषा सीखने की समस्या के कारण वह उस निमंत्रण को स्वीकार नहीं कर सकीं।

आचार्य कृपलानी जी से उनकी अच्छी मित्रता हो गई थी, वे उनकी कार्यनिष्ठा के प्रशंसक थे; किंतु उन्हें सरला बहन के स्वभाव की इतनी सरलता अच्छी नहीं लगती थी कि लोग उन्हें एक वस्तु की तरह जहाँ चाहे उपयोग में ले सकें। जब उन्हें पता चला, सरला बहन ने अपने मनोनूकूल स्थान पर जाकर कार्य करने का निश्चय किया है, तो उन्हें बहुत अच्छा लगा। उन्होंने कहा—"इससे पहले मैं नहीं जानता था कि तुम कोई व्यक्ति हो। मैं मानता था तुम पदार्थ हो, जिसे जब चाहे उठाकर, जहाँ रख दो।"

जे.बी. कृपलानी जब काम करते-करते थक जाते थे, तो घूमते-घूमते लोगों से बातें करके अपनी थकान मिटाते थे। इसी तरह एक दिन जब वे सरला बहन के दफ़्तर में घूम-घूमकर उन्हें अपने विचार समझा रहे थे, तभी के.एम. मुंशी की पत्नी श्रीमती लीलावती मुंशी, कृपलानी जी को ढूँढती हुई वहाँ आ पहुँचीं। बातचीत के मध्य उन्होंने कृपलानी जी से कहा—"हाल ही में हम कुछ दिन के लिए अल्मोड़ा गए थे। आपका चनौदा आश्रम बहुत ही सुन्दर स्थान पर है।"

जब लीलावती चली गईं, तो सरला बहन ने कृपलानीजी से चनौदा आश्रम के विषय में पूछा। उन्होंने बताया, वहाँ 'ऊनी कताई-बुनाई' का केन्द्र है; आश्रम के व्यवस्थापक गुजरात के एक श्रेष्ठ कार्यकर्त्ता रहे हैं, वे पहले साबरमती आश्रम में थे। सरला बहन ने पूछा—"क्या मैं वहाँ जा सकती हूँ?"

कृपलानी जी ने उत्तर दिया—"मैं ख़ुद वहाँ कभी नहीं गया हूँ, लेकिन यदि बापू इजाज़त दें, तो तुम बेशक वहाँ चली जाओ।"

जब उन्होंने बापू से चनौदा आश्रम जाने की इच्छा ज़ाहिर की, तो बापू

ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। बापू उनके स्वास्थ्य को लेकर चिंतित रहते थे; वे जानते थे, कार्य के प्रति वे इतनी समर्पित रहती हैं कि उन्हें अपने स्वास्थ्य की परवाह ही नहीं रहती। अतः उन्होंने समझाते हुए कहा—"एक साल तक कोई ख़ास काम हाथ में नहीं लेना, आराम करना और तंदुरुस्ती सँभालते हुए स्थानीय कार्यकर्त्ताओं एवं जनता से मिलना-जुलना। उनकी परिस्थितियाँ, आवश्यकताएँ और दृष्टिकोण समझना। काम करना हो, तो एक साल के बाद करना।"

सरला बहन की तनिक भी इच्छा नहीं थी कि वे आश्रम के इस आत्मीयतापूर्ण वातावरण को छोड़कर अन्यत्र कहीं चली जाएँ, किंतु स्वास्थ्य की विवशता के कारण उन्हें अल्मोड़ा स्थित चनौदा आश्रम के लिए प्रस्थान करना पड़ा। अपने तत्कालीन मनोभावों को उन्होंने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया—"मुझे लग रहा था कि भाग्य अभी तक मुझे गेंद की तरह उछालने की कोशिश कर रहा है, और मेरी संकल्पित योजनाओं को विफल करने में तुला हुआ है।"

वह सेवाग्राम के समस्त क्रियाकलापों में तत्परता से सहभागिता किया करती थीं। उनकी इस कर्मठता एवं सेवाभावना के कारण ही गाँधीजी एवं कस्तूरबा ही नहीं, सेवाग्राम आश्रम के सभी लोग उनसे अत्यंत स्नेह एवं उनका सम्मान किया करते थे। उन्होंने जीवनपर्यंत महात्मा गाँधी का अनुसरण किया।

वह पहली बार कुमाऊँ आ रही थीं; चनौदा पहुँचने के रास्ते का उन्हें ज्ञान नहीं था; अतः उन्होंने गाँधी आश्रम मेरठ से होकर चनौदा जाने का निश्चय किया। सेवाग्राम से वह मेरठ पहुँचीं। वहाँ उनकी प्रत्येक गतिविधि पर गुप्तचर विभाग की सूक्ष्मदृष्टि बनी हुई थी। प्लेटफ़ार्म पर उतरते ही गुप्तचर विभाग के एक व्यक्ति ने अपना परिचय दिए बिना, एक सभ्य भारतीय की तरह उनसे पूछा—"आप कहाँ जा रही हैं, क्या सवारी की व्यवस्था करने में मैं आपकी कोई मदद करूँ?"

सरला बहन ने उसे धन्यवाद दिया, और बताया वह यहीं गाँधी आश्रम में रुकेंगी। अगले दिन गुप्तचर विभाग से बुलावा आ गया; आश्रम के एक कार्यकर्त्ता के साथ जब वह गुप्तचर विभाग के कार्यालय पहुँचीं, तो उन्होंने स्टेशन में मिलने वाले उस व्यक्ति को वहाँ बैठे हुए देखा। दो दिन वहाँ रहने के पश्चात् जब वह हल्द्वानी के लिए प्रस्थान करने लगीं, तो वही व्यक्ति पुनः छोड़ने भी आया। गाँधी आश्रम मेरठ द्वारा तार के माध्यम से, सरला बहन के पहुँचने की सूचना गाँधी आश्रम अल्मोड़ा को दे दी गई थी।

जब वह हल्द्वानी पहुँचीं, तो वहाँ से उन्हें सोमेश्वर के लिए बस मिल गई, अतः वे अल्मोड़ा रुके बिना सीधे सोमेश्वर पहुँच गईं। जब वह शाम तक अल्मोड़ा

नहीं पहुँचीं, तो वहाँ सभी लोग चिंतित हो उठे, किंतु सरला बहन सामान बस में छोड़कर पैदल ही चनौदा आश्रम की ओर चल पड़ीं। मसूरी के बाद उनका यह पहला अनुभव था, जब उन्हें इतनी ठंडी एवं ताज़गी भरी हवा में घूमने का अवसर मिल रहा था। अपने इस अनुभव को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"गाँधी आश्रम चनौदा, कोसी नदी के किनारे पर है। वर्षा के कारण अभी तक नदी में काफ़ी पानी था, और वह चट्टानों के ऊपर से गरजती हुई बह रही थी। उस संगीत को सुनते हुए नींद बहुत अच्छी आई।"

सरला बहन 1941 में कुमाऊँ आ गईं। गाँधी आश्रम चनौदा के पश्चात् वह कौसानी चली आईं, और उन्होंने वहीं अपना निवास स्थान बना लिया। किंतु, विशेष अवसरों पर वह गाँधी आश्रम चनौदा जाती रहती थीं। गाँधी-जयंती के अवसर पर जब उन्हें अल्मोड़ा आने का निमंत्रण मिला, तो इस अवसर पर बोलते हुए उन्होंने लोगों को बताया कि गाँधीजी चाहते हैं, इस दिन को गाँधी-जयंती न कहकर 'चरखा जयंती' कहा जाना चाहिए।

बापू की सलाह के अनुसार वे अपने स्वास्थ्य के प्रति सजग रहते हुए, प्रातःकाल चार बजे उठकर कभी चीड़ के जंगलों में, कभी धान के खेतों में घूमने जाया करती थीं। उसके बाद नदी में स्नान करके, स्वयं अपने हाथों से सादा भोजन बनाकर खाया करती थीं। दोपहर में वे कश्मीर के औज़ारों पर तिब्बती ऊन कातना सीखती थीं। उन दिनों गाँव के लोग बुनाई करना बिल्कुल भी नहीं जानते थे; अतः वह आस-पास रहने वाली महिलाओं को एकत्र करके उन्हें सलाइयों से बुनाई करना सिखाया करती थीं। इसके साथ ही सायंकाल भी वह नियमित रूप से आस-पास के क्षेत्र में भ्रमण करने जाती थीं और कभी-कभी खेतों से होती हुई, निकटवर्ती किसी भी गाँव में वहाँ के लोगों की कुशलक्षेम पूछने पहुँच जाया करती थीं। बच्चों को अधिकांशतः खाँसी-जुकाम, पेचिश तथा बड़ों को वायु एवं वात विकार की शिकायत रहती थी; अतः वह उनके लिए आश्रम के दवाख़ाने से दवाइयाँ ले जाना कभी नहीं भूलती थीं।

सरला बहन के हृदय में ममत्व का अथाह सागर हिलोरें लेता रहता था; जो उनके संसर्ग में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने अमित जलबिंदुओं से सराबोर कर ही देता था। उनका यह स्नेहवर्षण केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं था, वह तो बादलों की तरह बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक प्राणी और धरती के कण-कण को भी स्नेह-अमृत से सिक्त किए रहता था।

शांतिलाल जी प्रतिवर्ष गाँधी आश्रम के लिए तिब्बती ऊन लाने के लिए

मुनस्यारी जाया करते थे। चनौदा आश्रम आने के लगभग दो माह पश्चात् सरला बहन ने शांतिलाल जी के साथ मुनस्यारी की यात्रा की। जब उन्होंने सरला बहन को यात्रा का सुझाव दिया, तो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया था। 1931 के बाद यह उनकी पहली पैदल यात्रा थी। जब वे कालामुनि पहाड़ को पार करके मुनस्यारी पहुँचे, तो वह वहाँ से सूर्योदय देखने के लिए बहुत उत्साहित थीं। अगले दिन सुबह तीन बजे उठकर वह शांतिलाल जी के साथ चोटी पर पहुँच गईं, ताकि पंचली के हिमशिखरों पर सूर्य की रक्तिम आभा को बिखरते देख सकें। उसके बाद वे दोनों नीचे गाँव में ऊन इकट्ठा करने गए।

सरला बहन की इस पैदल यात्रा का उद्देश्य केवल तिब्बत से ऊन खरीदकर लाना या पर्वतीय क्षेत्र के प्राकृतिक सौंदर्य को देखना ही नहीं था; इसके साथ ही वह वहाँ के जनजीवन को निकट से देखकर, दुर्गमता के कारण उन्हें होने वाले कष्टों तथा उनकी आवश्यकताओं को भी महसूस करना चाहती थीं। अपने संस्मरण में उन्होंने लिखा है–

"उन दिनों जोहार में सुधार आंदोलन चल रहा था। बहनों पर आर्य समाज एवं राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव पड़ रहा था। वहाँ स्त्रियों का एक संगठन भी था, जिसकी बैठकें लगातार चलती रहती थीं। यह ज़िला अल्मोड़ा का एकमात्र स्त्री-संगठन था। अज्ञानता के कारण ऊपर के इलाकों में यह भ्रांति प्रचलित थी कि वहाँ सर्दी के कारण शराब पीना आवश्यक है। अतः वहाँ प्रत्येक घर में स्त्रियाँ जौ की शराब बनाती थीं; जिसे वे स्वयं तो नहीं पीती थीं, लेकिन अपने घर के पुरुषों को तथा मेहमानों को देती थीं।

इस महिला-संगठन ने शराब बंदी का बीड़ा उठाया था; इसकी प्रेरणास्रोत गाँव की वे बुजुर्ग महिलाएँ थीं, जो वर्षों से इसके दंश को सह रही थीं। अपने इस अभियान की सफलता के लिए सबसे पहले महिलाओं ने अपने घर में शराब न बनाने का संकल्प लिया। उसके बाद पुरुषों से शराब न पीने का संकल्प कराया। इस कार्य के लिए वे युवाओं से भी सहायता ले रही थीं।"

इस तरह यात्रा के दौरान जनसंपर्क करके, लोगों में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करते हुए वह कुमाऊँ के परिवेश तथा संस्कृति से परिचित भी हो रही थीं। अब तक वे पूर्णतः स्वस्थ हो चुकी थीं। कताई-बुनाई का अभ्यास करते-कराते तथा नए अनुभवों से परिचित होते हुए एक वर्ष व्यतीत हो गया। वे खुश थीं कि इस तरह समय बिताकर उन्होंने बापू के आदेश का पालन किया। अपनी इस

पैदल यात्रा के दौरान सरला बहन ने देखा कि पर्वतीय क्षेत्र की महिलाएँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक कार्य करती हैं। अतः एक ओर जहाँ वे, हिमालय की तरह विपरीत परिस्थितियों में भी अपने कर्त्तव्य पर अडिग रहने वाली, कुमाऊँ की महिलाओं को देखकर अभिभूत हो उठी थीं; वहीं दूसरी ओर उनमें स्वयं अपने प्रति उदासीनता तथा आत्मसम्मान की कमी देखकर उनका मन अत्यंत आहत हुआ। अपनी उन स्मृतियों के आधार पर उन्होंने पहाड़ की महिलाओं के प्रति अपने उद्‌गार को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

"पहाड़ की स्त्रियाँ बहुत परिश्रमी और हिम्मती होती हैं, हिमालय के सारे पहाड़ी इलाके में खेती का ज्यादातर काम बहनें करती हैं; पुरुष सिर्फ़ हल चलाते हैं; सीढ़ीनुमा खेतों की दीवारों की मरम्मत करते हैं और सिंचाई की व्यवस्था करते हैं। बीज बोना, गुड़ाई, कटाई कूटने और पीसने की पूरी ज़िम्मेदारी स्त्रियों के सुपुर्द है। धान की रोपाई का कठिन काम भी स्त्रियाँ ही करती हैं। इसके अतिरिक्त घास काटना, जंगल से ईंधन के लिए लकड़ी काटकर लाना, रसोई बनाना, बच्चों को नहलाना-धुलाना और कपड़े धोना इनका नियमित काम है।"

उन्होंने अल्मोड़ा, पिथौरागढ़, धारचूला, नारायण आश्रम, मुनस्यारी, जोहार, नारायण नगर, अस्कोट, लोहाघाट, बागेश्वर, आदि स्थलों का भ्रमण करते हुए तथा वहाँ के ग्रामीण जनजीवन, उनकी आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति का अनुभवात्मक अध्ययन करते हुए, वहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति को जानने तथा वहाँ की भाषा को समझने एवं सीखने का प्रयास किया। जब भी जंगल से आती हुई अथवा गायों को चराती हुई कोई महिला उन्हें मिलती, तो वे उससे टूटी-फूटी कुमाऊँनी में बातें किया करती थीं। इससे उन्हें इन क्षेत्रों के निवासियों की कमियों एवं विशेषताओं को जानने का अवसर भी मिला; धीरे-धीरे उन्होंने कुमाऊँनी बोली एवं यहाँ की संस्कृति को अपनाकर लोगों के दिल में अपने लिए जगह बना ली। उनका अपने नाम सरला के आगे 'देवी' शब्द जोड़ना भी कुमाऊँनी संस्कृति को अंगीकार करने का ही परिचायक है।

अपने स्वास्थ्य के प्रति महिलाओं की उपेक्षा देखकर, उन्होंने वहाँ की बालिकाओं को गाँधी जी की शिक्षा-पद्धति के अनुसार शिक्षित करने का निश्चय किया; ताकि वे जागरुक हो सकें। सरला बहन को विश्वास था, पढी-लिखी लड़कियाँ विवाह के पश्चात् भी अपने घर-परिवार को आसानी से शिक्षित कर सकती हैं और लोगों के शिक्षित होने से, धीरे-धीरे समाज में व्याप्त कुरीतियाँ तथा अंधविश्वास भी दूर होते चले जाएँगे। इसी बीच काँग्रेस के कुछ स्थानीय साथियों के मन में

भी अपनी बच्चियों को शिक्षा दिलाने का विचार उत्पन्न हुआ; वे सरला बहन की जीवनशैली तथा योग्यता से अत्यन्त प्रभावित थे। उन्होंने निश्चय किया कि ग्रामीण बालाओं को स्थानीय प्राइमरी पाठशाला में ही भेजा जाए, जिससे वे सरला बहन के सान्निध्य में रहकर उनसे व्यावहारिक शिक्षा भी ले सकें। इस तरह कुछ बालिकाएँ सरला बहन के संरक्षण में रहने लगीं। सरला बहन सरकारी शिक्षा की कमियों को तो पूरा किया ही करती थीं, इसके साथ ही बच्चियों को अन्य कार्य भी सिखलाया करती थीं।

एक बार जब वे चनौदा आश्रम गई हुई थीं, तो उस बीच लक्ष्मी आश्रम कौसानी के अहाते में आकर, आस-पास के गाँवों के ग्वालबालों ने उपद्रव मचाना शुरू कर दिया। जब वे चनौदा से लौटीं, तो उन्होंने देखा-कुछ उद्दंड लड़के आपस में मारपीट कर रहे हैं, तथा आश्रम की छत पर पत्थर फेंक रहे हैं। सरला बहन के रोकने पर उस दिन तो वे वहाँ से चले गए, लेकिन अगले दिन आकर फिर से पहले की तरह उपद्रव करने लगे। इस तरह प्रतिदिन उनके चीख़ने-चिल्लाने तथा झगड़ने से आश्रम के कार्यों में व्यवधान होने लगा।

अतः एक दिन सरला बहन ने उन लड़कों को अपने पास बुलाया, और वे स्वयं भी उनके साथ खेलने लगीं। इस तरह खेल-खेल में वे बच्चों को कहानी के माध्यम से कभी पढ़ना-लिखना सिखातीं, तो कभी कोई नया खेल सिखाया करती थीं। सरला बहन रोचक उदाहरणों के माध्यम से बच्चों को, सफ़ाई से रहने के लिए प्रेरित करते हुए, उन्हें नहाने के लिए साबुन भी दिया करती थीं। धीरे-धीरे अन्य बच्चे भी उनके पास आने लगे। वह इसे पाठशाला न कहकर 'वनशाला' कहा करती थीं। सरला बहन की विशेषता थी कि वे सदैव परिस्थितियों को अपने स्वभाव, इच्छा एवं आवश्यकताओं के अनुरूप मोड़ने का प्रयत्न किया करती थीं, और उसमें उन्हें प्रायः सफलता भी मिलती थी।

गाँधीजी सदैव कहा करते थे—'अंत में, सत्य और न्याय की ही जीत होती हैं।' सरला बहन बापू के इस विचार पर अपार श्रद्धा एवं विश्वास किया करती थीं। यही कारण था, कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी वह कभी विचलित नहीं हुईं; तब भी नहीं जब ब्रिटिश हुकूमत के गुप्तचरों ने उनकी 'वनशाला' को 'बमशाला' समझकर उनको उत्पीड़ित किया। सरला बहन बापू के उन अनुयायियों में से थीं, जो स्वतंत्रता के लिए तन-मन-धन से समर्पित रहते थे, तथा जिन्होंने स्वतंत्रता के पश्चात् भी गाँधीजी के विचारों के अनुरूप समर्पण, मनोयोग एवं निष्ठा के साथ रचनात्मक एवं जनकल्याण के अनेक कार्य किए।

सरला बहन ने, कुमाऊँ में क्रांतिकारियों के असहाय तथा पिछड़े इलाके में रह रहे बच्चों तथा विधवाओं के संरक्षण के लिए, न केवल आश्रम स्थापित करके उन्हें आश्रय प्रदान किया, वरन् नारी-उत्थान के उद्देश्य से उन्हें शिक्षित भी किया। महिलाओं में आत्मविश्वास जाग्रत करने के लिए उन्होंने उन्हें अनेक उद्योग-धंधे भी सिखलाए, जिससे कि वे घर बैठे ही धनोपार्जन करके आत्मनिर्भर बन सकें। अपने त्यागपूर्ण जीवन एवं सेवाभाव से सरला बहन ने लोगों को स्वावलंबी बनाने के साथ ही, उन्हें निःस्वार्थ सेवा की ओर भी उन्मुख किया।

वे रात-दिन, वर्षा-धूप तथा शीत की परवाह किए बिना अंग्रेज़ों के अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध क्रांतिकारियों एवं उनके परिवारों की सहायता किया करती थीं, तथा गाँव-गाँव जाकर राजनैतिक क़ैदियों के परिवारों को नैतिक एवं आर्थिक सहयोग दिया करती थीं। जब ब्रिटिश प्रशासनिक अधिकारी को इस बात का पता चला, तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा, और इसके परिणामस्वरूप उन्हें अनेक बार जेल जाना पड़ा। उनकी बढ़ती हुई लोकप्रियता एवं निर्भीकता देखकर एक बार ज़िला अल्मोड़ा के तात्कालिक अंग्रेज़ डिप्टी कमिश्नर जे.सी. डोनाल्डसन ने सरला बहन से कहा—''तुम्हें शर्म आनी चाहिए। तुम सोचो, उस अंग्रेज़ जिलाधीश को कितना बुरा लगता होगा जिसके ज़िले में एक गोरी औरत के सिवाय, सब लोग उसकी बात मान रहे हैं।''

सरला बहन का मन, जहाँ एक ओर हिमालय की तरह, विपरीत परिस्थितियों में भी अपने कर्त्तव्य पर अडिग रहने वाली कुमाऊँ की महिलाओं को देखकर अभिभूत हो उठता था; वहीं दूसरी ओर जब वे उनमें स्वयं अपने प्रति उदासीनता तथा आत्मसम्मान की कमी को देखती थीं, तो वे अत्यन्त आहत हुआ करती थीं। इसीलिए, वे बालिकाओं की शिक्षा के साथ सर्वांगीण विकास पर बल देती थीं, जिससे कि वे घर और जंगल के कार्य करने के साथ-साथ समाज एवं राष्ट्र के विकास-कार्यों में भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकें। इसके लिए वे कोरे उपदेश ही नहीं दिया करती थीं, वरन् उनकी जीवन-शैली, स्वयं इसका ज्वलंत उदाहरण बन चुकी थी। एक सफ़ल गृहस्थ जीवन का आनंद अनुभव करने वाली स्नेहशीला बहन कहती हैं—''आश्रम में बहन जी छोटी-छोटी बातों को महत्त्वहीन समझकर कभी नहीं नकारती थीं। यदि उनको पता चल जाता कि अमुक बहनों में सार्वजनिक रूप से मनमुटाव है, तो वे अनशन पर उतारू हो जाती थीं, और तब तक अनशन नहीं त्यागती थीं, जब तक कि वे बहनें सार्वजनिक रूप से क्षमा याचना नहीं कर लेती थीं। यदि कभी स्वयं उनसे कोई ग़लती हो जाती, तो वे

तुरंत क्षमा याचना करने से भी कभी नहीं हिचकती थीं।''

वे अल्मोड़ा के जिस जेल में बंद थीं, वहाँ का जीवन अत्यन्त कष्टदायी था। एक तो जनवरी माह की कड़ाके की ठंड, उस पर स्नानागार न होने के कारण उन्हें खुले में ही स्नान करना पड़ता था। कारागार की कोठरी के दरवाज़े एवं खिड़की में सींकचे लगे थे, तथा ठंडी हवा को रोकने का कोई साधन भी नहीं था। उन्होंने लिखा है—''टट्टी-पेशाब का भीतर कोई इंतजाम नहीं था। शाम को छह बजे खाना देकर मेरे दरवाज़े पर ताला लगाया जाने लगा, जो सुबह आठ बजे खुलने वाला था। जब मैंने एतराज किया, तो एक छोटा-सा मिट्टी का बर्तन लाकर एक कोने में रख दिया गया। वह सुबह तक ख़ूब भर गया, और पेशाब दूर तक फर्श पर फैल गया। वर्षा भी चलती रही। मैं कंबल ओढ़कर सिमटकर बैठी हुई, पेशाब से बचने का प्रयत्न कर रही थी।''

सज़ा मिलने के कारण, कारागार में इच्छानुसार पढ़ने-लिखने के साधन भी वर्जित थे, किंतु स्लेट, पेंसिल और आध्यात्मिक पुस्तकें पढ़ने की अनुमति थी। अल्मोड़ा जेल पहुँचने से पहले, एक रात जब वे रानीखेत लॉकअप में रहीं, तो सुबह उनके अनेक क्रांतिकारी मित्र उनसे मिलने पहुँचे। वहाँ एक मित्र ने उन्हें गाँधीजी कृत गीता का हिन्दी अनुवाद 'अनासक्ति योग' इसलिए भेंट की थी, जिससे कि यह पुस्तक जेल में साथी की तरह उन्हें सहयोग दे। अतः कारागार में उन्होंने गीता का अध्ययन करने का संकल्प किया। सरला बहन गीता के अध्ययन के साथ ही उसका अनुवाद, स्लेट के एक ओर हिन्दी में तथा दूसरी ओर अंग्रेज़ी में, किया करती थीं, तथा 'ऑनर्ड' की किताब से मिलाकर फिर उसमें सुधार भी करती रहती थीं। अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का उन्होंने सदैव सदुपयोग किया। वे आश्रम की बालिकाओं को भी समय का सदुपयोग करने के लिए प्रेरित किया करती थीं। तभी तो जब वे कारागार में थीं, वहाँ पर भी उन्होंने जेल के पुस्तकालय से, रामायण एवं सुखसागर लेकर उनका अध्ययन किया, इसके साथ ही, वे अपने कैदी साथियों को भी इन्हें सस्वर पढ़कर सुनाया करती थीं। एक साल की सज़ा के मध्य उनका तबादला अल्मोड़ा जेल से सेन्ट्रल जेल लखनऊ कर दिया गया।

1942 के आंदोलन के समय सरला बहन ने, कौसानी में पूर्णानंद सनवाल जी के बंगले में नज़रबंदी का समय व्यतीत किया था; बाद में सनवाल जी ने अपना वह बंगला आश्रम के लिए ही दान में दे दिया। 5 अगस्त 1946 को जे. बी. कृपलानी जी के करकमलों द्वारा 'लक्ष्मी आश्रम' कौसानी का उद्घाटन किया

गया। सनवाल जी की पत्नी का नाम लक्ष्मी था, अतः इस आश्रम का नाम 'लक्ष्मी आश्रम' रखा गया।

पाँच दिसम्बर उन्नीस सौ छियालीस (5.12.1946) को सरला बहन ने दो-तीन लड़कियों को लेकर कार्य प्रारम्भ किया। कुछ माह पश्चात् छात्राओं की संख्या बढ़कर छह हो गई। आश्रम की शिक्षा-पद्धति एवं जीवन शैली से प्रभावित होकर टिहरी और पौढ़ी से भी माता-पिता ने अपनी लड़कियों को आश्रम भेज दिया। ग्रामीणजनों की सोच एवं धन-अभाव के कारण, प्रारम्भ में यह विचार था कि आश्रम की लड़कियों को कक्षा चार तक ही शिक्षा दी जाए; किंतु जब चौथी कक्षा की पढ़ाई पूरी होने के पश्चात् भी उनके माता-पिता अपनी लड़कियों को लेने नहीं आए, तो निश्चय किया गया कि आठ साल की पूरी बुनियादी पाठशाला चलाई जाए।

इस विचार को मूर्त रूप देने के लिए अधिक स्थान की आवश्यकता थी। अतः सरला बहन ने अपने साथियों के सहयोग से आश्रम की निकटवर्ती एक ऐसी ज़मीन का प्रस्ताव बनाकर भेजा जिसमें एक नौला भी था। सौभाग्य से वह ज़मीन आश्रम के लिए मिल गई, किंतु अब समस्या यह थी कि भवन निर्माण के लिए धन कहाँ से जुटाया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भाई शांतिलाल जी ने चंदा माँगने में उनकी सहायता की। सरला बहन के कलकत्ता विद्याभवन के कुछ विद्यार्थियों ने, भी इस कार्य में उनका सहयोग किया। इसके अतिरिक्त लखनऊ तथा कानपुर से भी उन्हें भवन निर्माण हेतु सहयोग राशि प्राप्त हुई।

इसके विपरीत अज्ञानता एवं जागरुकता की कमी के कारण स्थानीय रूढ़िवादी बुजर्गों को लगता था कि लड़कियों के लिए आश्रम बनाकर पुराने सामाजिक नियमों को तोड़ा जा रहा है, इससे लड़कियों के विवाह में दिक़्क़तें आएँगी तथा उन्हें जाति से बाहर कर दिया जाएगा। किंतु धीरे-धीरे जब उन्होंने आश्रम की शिक्षा-पद्धति को जाना तथा आश्रम की लड़कियों के निखरे हुए व्यक्तित्व को देखा, तो स्थानीय लोग ही नहीं, वरन बाहर के लोग भी सरला बहन के प्रति नतमस्तक हो गए। गाँव के लोग अपनी बेटियों को आश्रम भेजने पर, स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करने लगे।

सरला बहन की कटिबद्धता एवं उनके दृढ़निश्चयात्मक व्यक्तित्व का ही परिणाम था कि भारतभूमि की स्वतंत्रता के लिए वे जिस व्यक्ति को जो कार्यभार एवं दायित्व सौंपती थीं, वह व्यक्ति उस कार्य के प्रति भावनात्मक रूप से जुड़ जाया करता था। यही कारण था कि उन्हें कौसानी में नज़रबंद भी रहना पड़ा।

सभी उनके ज़िद्दी स्वभाव से भलीभाँति परिचित थे। वे एक बार जिस कार्य को करने का निश्चय कर लेती थीं, उसे पूरा किए बिना चैन से नहीं बैठती थीं। जब वे अल्मोड़ा जेल से छूटने वाली थीं, उससे कुछ दिन पहले जिलाधीश उनसे मिलने आया, और सरला बहन को सचेत करते हुए बोला—"कुछ दिनों में आप छूटने वाली हैं, लेकिन आप अच्छी तरह समझ लें कि मुझे आपका इस ज़िले में घूमना बर्दाश्त नहीं है। इसलिए, या तो आप अपने बंगले तक सीमित रहें या इस ज़िले को छोड़कर चली जाएँ।"

सरला बहन इतनी साहसी थीं कि नज़रबंद होने के बावजूद वे राजनैतिक कार्यकर्ताओं की बैठक में सहभागिता करने लखनऊ पहुँच गईं। उसके बाद वे राजनैतिक पीड़ितों और 'कस्तूरबा स्मारक निधि' के लिए चंदा इकट्ठा करती हुई, लखनऊ से सेवाग्राम, फिर वर्धा, और उसके बाद बापू से मिलने मुम्बई पहुँचीं। वहाँ से मेरठ, और उसके बाद चंदा इकट्ठा करने के लिए नैनीताल होती हुई वे वहाँ से अल्मोड़ा लौट आईं। कानून तोड़ने के कारण उन्हें दुबारा बंदी बना लिया गया। जब उनके साथी डेविड ने ज़िलाधीश से पूछा—"आप सरला बहन को नज़रबंद रखने पर इतनी सख़्ती क्यों कर रहे हैं?"

ज़िलाधीश ने तपाक से कहा—"क्योंकि, वे इस ज़िले की सबसे ख़तरनाक व्यक्ति हैं।"

सन् 1945 में जब सरला बहन बापू से मिलने पूना गईं, तब जीवन में पहली बार वे किसी के चरणों में नतमस्तक हुईं। इससे पूर्व वे कभी भी चरण-स्पर्श करके किसी को अभिवादन नहीं किया करती थीं, किंतु वर्षों बाद जब वे पूना में गाँधीजी से मिलीं, तो भावाकुल होकर उनके चरणों में गिर पड़ीं। उन्होंने लिखा है—"बापू को पहली बार बिना 'बा' के अकेला देखकर, और इन चार वर्षों में देश ने क्या-क्या बर्दाश्त किया है; यह सब एक साथ मेरे मन में आया और मैं बापू के पाँवों में गिर पड़ी। घन की तरह उनका दायाँ हाथ मेरी पीठ पर पड़ा। प्रेम और स्वीकृति प्रकट करने का यह उनका अपना तरीक़ा था।"

बापू के आग्रह पर वे पूना ही रुक गईं। उन दिनों बापू का शरीर अत्यंत क्षीण हो चुका था। सरला बहन सुबह-शाम बापू के साथ बगीचे में घूमा करती थीं। टहलते हुए बापू उन्हें अपने विगत दिनों के अनुभव सुनाया करते थे। चर्चा करते-करते जब वे कुछ थकान अनुभव करने लगते थे, तो सरला बहन को लाठी की तरह अपना सहारा बनाकर, चर्चा जारी रखते हुए चलते रहते थे। एक दिन इसी तरह बातचीत के दौरान उन्होंने सरला बहन से पूछा—"इस अरसे में तुम

क्या करती रही?

सरला बहन ने कहा—"भटकती रही।"

बापू मुस्कराकर बोले—"रोलिंग स्टोन?"

'हाँ' कहकर, जब सरला बहन ने उन्हें अल्मोड़ा आंदोलन एवं अपने शहीद हुए साथियों के बारे में विस्तार से बातें बतायीं, तो सारी कहानी सुनकर बापू ने कहा—"तब तुम लुढ़कता हुआ पत्थर नहीं, अनिकेतन बनी। जब मैं पहली बार मुक़द्दमे के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका गया था, उस समय मेरे पास भी कोई विशेष काम नहीं था। तब मैं भी लुढ़कता हुआ पत्थर बन सकता था, लेकिन मैंने भारतीयों के नागरिक अधिकारों के लिए आंदोलन छेड़ दिया। इन दिनों तुम्हारी परिस्थिति भी कुछ वैसी ही है।"

बापू की इन प्रेरणादायिनी बातों को सुनकर सरला बहन के हृदय में नवचेतना जाग उठी। उसके बाद उन्होंने कौसानी-आश्रम की लड़कियों के लिए नयी तालीम का काम आरम्भ करने की योजना के विषय में बापू को बताया, और 'बा' के नाम से कार्य प्रारम्भ करने की आज्ञा एवं आशीर्वाद माँगा। बापू ने उनसे कहा—"तुम्हारी व्यावहारिक बुद्धि पर मुझे इतना विश्वास तो है ही कि तुम जो कुछ करना चाहोगी, वह ठीक ही होगा। लेकिन एक बात याद रखो—कोई काम शुरू करके उसमें फेल होना अच्छी बात नहीं है।"

सरला बहन ने कहा—"मैं नहीं जानती कि सफलता और असफलता से आपका क्या मतलब है। यदि सफलता से आपका मतलब यह है कि लोग हमारे काम को बहुत अच्छा कहने लगें, तो मैं उसे सफलता नहीं मानती; और यदि असफलता से आपका मतलब लोगों की ऐसी आलोचना से है कि मैं लड़कियों को बर्बाद कर रही हूँ, जीवन के सामाजिक मूल्यों का सर्वनाश कर रही हूँ, तो इन चार सालों के अनुभवों के आधार पर मैं आपको यह भरोसा दिला सकती हूँ कि मैं इसमें असफलता भी नहीं मानूँगी। बीस साल के बाद अगर कुछ लड़कियाँ शिक्षा पूरी करके विरोधी दुनिया के सामने नये जीवनमूल्य प्रकट कर पाएँगी, तो उसके बाद मैं आपको उत्तर दूँगी।"

सरला बहन के आत्मविश्वास-पूर्ण इस वक्तव्य को सुनकर बापू अत्यंत प्रसन्न हुए। बापू से उनकी यह अंतिम मुलाकात थी। उस अविस्मरणीय स्मृति को उन्होंने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—"वहाँ से लौटते समय, जब मैं उनके चरण छूने के लिए झुकी, तो एक बार फिर घन की तरह उनका हाथ मेरी पीठ पर पड़ा। उस समय मैं नहीं जानती थी कि ये आख़िरी विदाई है।"

काश! धर्म के ठेकेदार नाथूराम गोडसे ने अपनी पिस्तौल से मानवता के उस विराट मंदिर को ध्वस्त नहीं किया होता, तो बापू 'कस्तूरबा महिला उत्थान मंडल लक्ष्मी आश्रम' कौसानी के रूप में सरला बहन के उस स्वप्न को साकार होते हुए अवश्य देख पाते।

सेवाग्राम से वे जे.बी. कृपलानी जी के घर इलाहाबाद गईं। कृपलानी जी ने महिला आश्रम के लिए सहयोग-राशि के रूप में उन्हें दस हज़ार रुपए भेंट किए। इलाहाबाद से वे लखनऊ होती हुईं अल्मोड़ा आ गईं।

पन्द्रह अगस्त एवं छब्बीस जनवरी जैसे राष्ट्रीय पर्व, आज केवल झंडारोहण, प्रभातफेरी, भाषण, तथा हर्षोल्लास प्रदर्शन के ही दिन बनकर रह गए हैं। ऐसे में सरला बहन के उदात्त विचार एवं उनकी सहज जीवनशैली, स्वयं को गाँधीवादी एवं देशभक्त कहने वालों की आत्मा को झकझोरने एवं उनसे आत्मनिरीक्षण करने के लिए कसौटी है।

प्रत्येक वर्ष पंद्रह अगस्त के दिन सरला बहन लक्ष्मी-आश्रम में देश के नव-निर्माण के लिए श्रमदान के रूप में 'अखंड सूत्र यज्ञ' का आयोजन किया करती थीं। उस दिन राष्ट्रीय गीतों एवं कविताओं के साथ चरखे की गूँज से सारा आश्रम देशभक्ति के रस में सराबोर हो उठता था। सुन्दरलाल बहुगुणा जी की पत्नी विमला बहुगुणा जी बताती हैं—"उस दिन, जबकि पूरा देश उल्लास में होता था, बहनजी उपवास रखती थीं; जो हमें उस दिन के लिए हुए बलिदानों की सतत याद दिलाता था। वे कहती थीं—'बापू के स्वप्नों का भारत झंडारोहण, प्रभातफेरी, और कोरे भाषणों से नहीं बनेगा। हमें करोड़ों भारतीयों की झोपड़ियों में इस आज़ादी के दर्शन कराने के लिए, इस दिवस पर मन में दृढ़संकल्प करना है। अभी तो हमने केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त की है। समाज में जो बौद्धिक एवं आर्थिक गुलामी की गहरी जड़ें जमी हैं, उनसे मुक्ति पाने के लिए हमें और कइयों को अपना जीवन खपाना होगा।"

श्रीमती विमला बहुगुणा जी ने उनके विषय में लिखा है—"वे प्रतिदिन हमें गीता के कुछ उपदेश, सर्वोदय पत्रिका से विनोबा जी के लेख या धीरेन्द्र दा की 'ग्राम सेवा' पुस्तक से उनके अनुभव एवं गाँधीजी की आत्मकथा पढ़कर सुनातीं, तत्पश्चात् उस पर विवेचन प्रस्तुत प्रस्तुत किया करती थीं। हमारे मानस में उनकी चर्चा, मंथन पैदा कर देती, और हम सोचते—'यह महिला, विलायत से आकर पहाड़ के इस कोने में जंगल के बीच बैठकर इस प्रकार का सादा जीवन बिता रही है, और कपड़ों के फटने पर उन पर पैबन्द लगाकर पहन लेती है। हमारी

समझ में बैठने लगा कि जीवन की सार्थकता का बाहरी वेशभूषा से कोई संबंध नहीं है।''

'लक्ष्मी आश्रम' कौसानी के आधार स्तम्भों में से एक हैं—कांति दीदी। सन् 2007 में मुझे 'बालप्रहरी' द्वारा आयोजित सम्मान समारोह में सम्मिलित होने के लिए कौसानी जाने का सुअवसर मिला। यहाँ मेरी मुलाक़ात कांति बहन से हुई। उनके नाम के अनुरूप उनके निश्छल व्यक्तित्व की कांति ने मुझे सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और मैं उनके स्नेहिल आमंत्रण पर 'लक्ष्मी आश्रम' खिंची चली गई। उन्होंने अत्यंत आत्मीयता से मुझे अपने साथ आश्रम का परिभ्रमण कराया तथा वहाँ होने वाली प्रत्येक गतिविधि से भी मुझे परिचित कराया। आश्रम की कार्यशैली तथा शिक्षा-पद्धति ने मुझे बहुत प्रभावित किया। बातचीत के दौरान जब मैंने उनसे सरला बहन के विषय में पूछा, तो उन्होंने बताया—''बहन जी इतनी सरल थीं कि जब ग्रामीण महिलाएँ अपने घाघरे एवं आँगड़ी पहने, कमर में दराँती खोंसे, हाथ में रस्सी लिए नंगे पैर बहन जी से मिलने आती थीं, तो वे अपने ज़रूरी कामों को छोड़कर उनसे मिलने के लिए, दौड़ती हुई-सी आकर उन्हें गले से लगा लेती थीं और मुस्कराकर उनकी ही भाषा (कुमाऊँनी) में उनके घर-परिवार के विषय में पूछती थीं। इसके विपरीत, जब कोई शहरी व्यक्ति उनसे मिलने आता, तो डेस्क में झुकी हुई, वे अपने कार्य में डूबी रहतीं। जब उनसे कहा जाता कि 'आपसे मिलना चाहते हैं, तो वे मुझसे अनुनय करती हुई कहतीं—'क्या तुम उन्हें आश्रम घुमा लाओगी।' मेरे 'हाँ' कहने पर वे कितनी राहत महसूस करती थीं, ये उनके 'धन्यावाद' शब्द को सुनकर सहज ही मेरी समझ आ जाता था।''

सरला बहन अत्यंत मितव्ययी थीं। यही कारण था कि वे न तो स्वयं फिज़ूलख़र्ची करती थीं, और न किसी दूसरे को ही करने देती थीं। वे प्रत्येक वस्तु का तब तक उपयोग किया करती थीं, जब तक कि उसकी उपयोगिता-क्षमता पूर्णतया समाप्त न हो जाए। पार्सलों के रैपर एवं डोरियों को तथा डाक से आए लिफ़ाफ़ों को भी वे सँभालकर रखती थीं, और उन्हें दुबारा प्रयोग में लाती थीं। देवी पुरस्कार भाई बताया करते थे—''वे लकड़ी, पत्थर, कोयला, राख, मिट्टी, फूल कागज़, अखबार आदि किसी भी चीज़ को बरबाद होते हुए नहीं देख सकती थीं; यहाँ तक कि बगीचे में खाद का बरबाद होना भी उनसे सहन नहीं होता था। वे कहा करती थीं—'खाद का पूरा-पूरा लाभ धरती को मिलना चाहिए। खेत में पड़ी हुई खाद यदि भलीभाँति मिट्टी में मिला दी जाए, तो एक दिन वह उपयोग

में आ जाएगी, किंतु यूँ ही बहुत दिनों तक पड़े हुए रहने से उसके कितने ही उर्वरक तत्त्व समाप्त हो जाएँगे।' वे इस प्रकार गहराई से सोचती थीं।''

देश की प्रत्येक समस्या को वे इतनी गंभीरता से लेती थीं, जैसे वह उनकी व्यक्तिगत समस्या हो। सर्वोदय के अर्थशास्त्र को समझने के लिए वे अपने आश्रम में कुमारप्पा जी के अर्थशास्त्र की पुस्तकों को, सस्वर पढ़कर अपनी छात्राओं को सुनाया करती थीं, जिससे कि वे भविष्य में देश की आर्थिक स्वतंत्रता के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकें। उनकी शिष्या डॉ. दिवा भट्ट कहती हैं—''वे अपनी छात्राओं को ऐसी शिक्षा देना चाहती थीं, जिससे वे व्यावहारिक तथा बौद्धिक सभी विषयों में कुशलता प्राप्त करके आर्थिक, सामाजिक एवं मानसिक रूप से आत्मनिर्भर बन सकें। इसके मार्ग में जो भी संस्कार या क्रियाएँ बाधक बनती थीं, उन्हें वे त्याज्य समझती थीं।''

जाति-पाँति का भेदभाव देखकर उनका मन खिन्न हो उठता था। वे कहा करती थीं—''यदि जाति-पाँति का भेदभाव सत्य होता, तो मृत्यु के पश्चात् 'राम नाम सत्य है' का उद्घोष करते हुए व्यक्ति की शवयात्रा नहीं की जाती, वरन् उसके स्थान पर 'जोशी नाम सत्य है' अथवा 'रावत' नाम सत्य है' का उद्घोष करते हुए शवयात्रा की जाती। वास्तव में न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। हम सभी परमात्मा की संतानें हैं। 'राम' शब्द तो हिदू धर्म का मूलाधार है, और अंतिम सत्य भी 'राम' ही है। इसलिए तुम लोगों को अपने नाम से जातिसूचक शब्द 'राम' को हटाना या छिपाना नहीं चाहिए, बल्कि गर्व से 'राम' शब्द का प्रयोग करना चाहिए।''

वे सादा भोजन करती थीं, और सादा जीवन जीती थीं, किंतु उनके विचार एवं जीवन के उद्देश्य बहुत बड़े थे। उन उद्देश्यों की प्राप्ति में उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन न्यौछावर कर दिया। वे दरिद्रनारायण की सेवा को ईश्वर की सच्ची सेवा मानकर आजीवन ज़रूरतमंदों की सेवा करती रहीं। उनके दृढ़निश्चयी स्वभाव एवं प्रबल इच्छाशक्ति का ही परिणाम था कि आश्रमवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उन्हें बाहर से अनाज जैसी कुछ ही वस्तुओं की ख़रीददारी करनी पड़ती थी। शाक-सब्जियों, मौसमी फलों, दूध-दही-घी के अतिरिक्त ऊनी वस्त्र, दरियाँ, कालीन आदि का उत्पादन आश्रम में ही किया जाता था। सरला बहन बच्चों के स्वास्थ्य के प्रति इतनी सजग रहती थीं कि प्रतिदिन प्रातःकाल प्रार्थना के पश्चात् उन्हें अंकुरित चने, चिरायते एवं जौ का पानी दिया करती थीं।

वहाँ की छात्राओं का जीवन तपस्विनियों-जैसा था। सभी आश्रमवासी

एक-दूसरे के साथ समानता का व्यवहार किया करते थे। गायों को चराने, उनके लिए घास एवं चारा तथा ईंधन के लिए लकड़ियाँ लाने के लिए, लड़कियाँ हर दिन बारी-बारी से जंगल जाया करती थीं। पड़ाव से अनाज ढोकर लाना, उसे पनचक्की से पिसवाकर लाना उनकी ही ज़िम्मेदारी थी।

आश्रम की छात्राएँ, जंगल एवं घर के विविध कार्यों के साथ-साथ बौद्धिक क्रियाकलापों में भी, अन्य पाठशालाओं में पढ़ने वाली छात्राओं से पीछे नहीं थीं। इसका एक कारण यह था कि वे आश्रम से निकलने वाली 'विजय' तथा 'सूर्योदय' नामक हस्तलिखित मासिक पत्रिकाओं के लिए लेख लिखती रहती थीं, तथा आश्रम के छोटे-से पुस्तकालय से लेकर पुस्तकें तथा अख़बार भी पढ़ा करती थीं। सरला बहन, लड़कियों को साहसी एवं निःसंकोची बनाने के लिए समय-समय पर गाँवों में शिविर तथा कैम्प एवं फ़ायर भी करवाती रहती थीं, अतः इससे भी लड़कियों में आगे आकर सबके सामने बोलने, तथा अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की क्षमता विकसित होने लगी। वे उन्हें प्रकृति के माध्यम से विज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा भी दिया करती थीं।

सरला बहन, अपनी छात्राओं के सर्वांगीण विकास के लिए आश्रम में खेलकूद तथा अन्य बौद्धिक प्रतियोगिताओं के साथ ही चुनाव करवाकर मंत्रिमंडल भी गठित करना सिखाती थीं; तथा मंत्रियों को आरोग्य, सफाई, रसोई, कृषि आदि विभागों का दायित्त्व भी सौंपती थीं। जिससे कि वे अपने दायित्त्वों के प्रति सजग रहकर उन्हें निभाना सीखें। वे, गाँवों की शिक्षिकाओं के साथ अन्य आश्रमों की रचनात्मक संस्थाएँ देखने, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टि से शैक्षणिक भ्रमण करने के लिए भी भेजा करती थीं। अपने आश्रम की अनेक योग्य छात्राओं को उन्होंने शिक्षण-प्रशिक्षण हेतु 'सेवाग्राम' जैसे अन्य आश्रमों में भी भेजा।

जब आश्रम की प्रथम टोली की लड़कियों ने अपनी उत्तर बुनियादी शिक्षा पूरी कर ली, तो उनमें से तीन लड़कियों ने स्वेच्छा से गाँव की सेवा का दायित्त्व ग्रहण किया। उन तीनों को कौसानी से लगभग पचास मील की दूरी पर स्थित सघन क्षेत्र के तीन गाँवों का चयन करके वहाँ भेज दिया गया। वे, गाँव की महिलाओं के साथ खेतों और जंगलों में मिल-जुलकर काम किया करती थीं, तथा छोटे बच्चों के लिए बालवाड़ी भी चलाती थीं। महिलाओं को कताई-बुनाई सिखाने के साथ ही स्वयं भी कताई-बुनाई के माध्यम से धनोपार्जन किया करती थीं। इन कार्यों के अतिरिक्त, गाँव में सफाई के कार्यक्रम चलाकर, तथा मल-विसर्जन हेतु गड्ढे खुदवाकर, ग्रामवासियों को सफाई के प्रति जागरूक भी किया जाता था। उनमें

से एक को होमियोपैथी का अच्छा ज्ञान था, अतः वह होमियोपैथी के माध्यम से मरीज़ों की सेवा करती थी। वह अपने कार्य में इतने दक्ष थी कि अन्य गाँवों से भी रोगी उसके पास आने लगे।

सरला बहन ने उत्तराखंड की महिलाओं को न केवल शिक्षित किया, वरन् उन्हें शिक्षा के माध्यम से जागरूक भी किया। समय का सदुपयोग करना सिखाकर, उनमें घर एवं जंगल के कार्यों के साथ सफाई के प्रति रुझान भी उत्पन्न किया, तथा उन्हें अनेक उद्योग-धंधे सिखाकर, उनके स्वावलंबी बनने में भी अपना सहयोग दिया। उन्हें विश्वास था कि यदि महिलाएँ संगठित होकर सामाजिक सुधार का कार्य करें, तो शीघ्र ही समाज में परिवर्तन आ सकता है। उनके देहावसान से कुछ दिन पूर्व, एक बार जब कौसानी आश्रम की संचालिका सुश्री राधा दीदी ने उनसे पूछा—''आपको उत्तराखंड की बहनों की कार्य-दिशा के बारे में क्या लगता है, क्या आप उन्हें कोई संदेश देना चाहती हैं?''

तब उन्होंने अपने टूटते हुए स्वर में कहा था—''जो बहनों के लिए है, वही भाइयों के लिए भी है......पर बहनें शांतिपूर्वक काम करती हैं और भाई डाइनामाइट चलाने के शौकीन होते हैं.........और आख़िर में उसका मलबा-पत्थर बहनों के कंधे पर पड़ता है। बहनें ज़्यादा ठोस काम करेंगी?''

सरला बहन के चरित्र की अनेक विशेषताओं में से एक थी—उनकी व्यवहार कुशलता। उनके व्यवहार कौशल का अनुमान इस बात से सहज ही लगाया जा सकता है कि आज भी उनकी प्रत्येक शिष्या को यह विश्वास है कि सरला बहन सर्वाधिक स्नेह उससे ही किया करती थीं।

मुझे उनकी जिन शिष्याओं से भी बात करने का सुअवसर मिला, उनके हृदय में सरला बहन के प्रति अगाध श्रद्धा व प्रेम को देखकर एवं उनकी आत्मीयतापूर्ण बातें सुनकर मुझे भी ऐसा ही प्रतीत हुआ कि संभवतया वे उनसे ही सर्वाधिक स्नेह किया करती होंगी। वास्तव में, वे त्याग एवं सेवा की ही नहीं, वरन् प्रेम की भी साक्षात् मूर्ति थीं, क्योंकि वे मनुष्यों से ही नहीं अपने पशुओं से भी अत्यधिक प्रेम किया करती थीं, तथा जब कभी वे कार्यवश आश्रम से बाहर किसी दूसरे शहर जाती थीं, तो गौशाला में अपनी गौओं से मिलकर ही जाती थीं। वे सच्चे अर्थों में गौ भक्त थीं।

''कस्तूरबा सेवा केन्द्र' की सेविका बहन दीक्षा बिष्ट बताती हैं—''बहन जी की एक गाय मेरी देख-रेख में थीं। अस्वस्थ हो जाने के कारण जब वे कौसानी चली गईं, तब हम लोगों ने तय किया कि गाय को बेचकर, रकम बहन जी के

पास जमा कर दें। किंतु जब यह सुझाव उनके सामने रखा गया तो वे बोलीं—"गाय को माँ की तरह पालो, और समझो, न कि उसे व्यापार की वस्तु मानकर जब चाहो बेचो, जब चाहो ख़रीदो।" वे गाय को माँ के रूप में मानती थीं, अतः उसे जूठन देने में भी ऐतराज किया करती थीं।"

एक बार जब अचानक उन्हें कोटद्वार जाना पड़ा, तो समयाभाव के कारण वे गायों से मिलने गौशाला न जा सकीं, अतः इससे वे बहुत दुःखी हुईं। जब उन्होंने कोटद्वार से राधा बहन को पत्र लिखा, तो उसमें आश्रम की लड़कियों की कुशल के साथ, वे उनसे अपनी गायों की कुशल पूछना नहीं भूलीं। अपनी प्रिय गाय कुसुम की कुशल पूछते हुए उन्होंने लिखा था—"कुसुम कैसी है? अब तक ब्यायी या नहीं? अन्य गायें कैसी हैं? इतने दिनों तक उनका दूध पिया, और आते समय उनसे नहीं मिल सकी, मलाल है।"

यह भाग्य की विडंबना ही थी कि जिन्होंने भारत को, अपने देश ब्रिटेन की सरकार के अन्याय एवं अत्याचार से मुक्त कराने के लिए, उसके स्वतंत्रता आंदोलन में सहयोग दिया, जनसेवा को सर्वोपरि धर्म मानकर मानवता के कल्याण के लिए अपने यौवनकाल की भी आहुति दे दी। उन्होंने भौतिक सुख-सुविधाओं को त्यागकर, सच्चे सेनानी की तरह अपने कर्ममार्ग पर चलते हुए कारागार की अनेक यातनाएँ झेलीं। अविवाहिता रहकर, जननी होने के गौरव से वंचित रहकर भी, भारतवर्ष के प्रत्येक बच्चे को अपनी संतान मानकर मातृत्व के असीम सुख को भोगा; तथा उनके जीवन से अज्ञानता का अंधकार मिटाने के लिए उन्हें शिक्षित करती रहीं। यद्यपि वे जाति-पाँति एवं ऊँच-नीच का भेदभाव किए बिना, हमेशा बेसहारों का सहारा बनकर उन पर ममत्व न्यौछावर करती रहीं, तथापि अंततः हमारे देशवासियों ने उन्हें अपना मानने से इंकार कर दिया, तथा उन्हें 'विदेशी' कहकर कलंकित किया। अपने लिए प्रयुक्त इस 'विदेशी' संबोधन के कारण, वे अपने जीवन के अंतिम समय तक अत्यंत व्यथित रहीं।

सन् 1962 में चीन ने, तथा 1965 में जब पाकिस्तान ने, भारत पर आक्रमण किया, तो दिल्ली सचिवालय ने सरला बहन को विदेशी मानकर, उनके भारत की सीमा पर रहने पर रोक लगा दी। यही कारण था कि जीवन के अंतिम क्षणों तक सरला बहन का हृदय इस बात से अत्यंत व्यथित रहा कि जिन भारतवासियों की सेवा करने के लिए वे आजीवन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का अनुसरण करती रहीं; अपनी जन्मभूमि तथा वहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति तक को उन्होंने विस्मृत कर दिया, तथा अपने माता-पिता द्वारा दिए गए नाम को विस्मृत करके

गाँधीजी द्वारा दिए गए नाम—'सरला' को ही वे अपना नाम मानती रहीं, उन्हीं भारतवासियों ने उनसे सदा उनका वास्तविक नाम जानना चाहा, और आज भी भारतवासी उन्हें अपना न मानकर, एक विदेशी ही मानते हैं।

सरकार की आज्ञा का पालन करने के लिए उन्हें अपने उस घरौंदे को छोड़ना पड़ा, जिसे बनाने एवं बसाने के लिए उन्होंने दर-दर की ठोकरें खाईं। उन्होंने अपने स्वाभिमान को भुलाकर लोगों से माँग-माँगकर इसलिए धन एवं अन्न जुटाया, जिससे कि वे आंदोलनकारियों की तथा उनके परिवारजनों की सहायता कर सकें; सीमान्त क्षेत्र के बच्चों, तथा महिलाओं की सोई हुई प्रतिभाओं को जगा सकें, और भविष्य में समाज एवं राष्ट्र के विकास में, वे भी अपना योगदान दे सकें।

पानसिंह दोसाद जी बताते हैं—"बरौरा घाटी एवं कत्यूर घाटी के जिन स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों को सरकार ने काल कोठरी की सज़ा दी थी, उन आंदोलनकारियों के परिवारों को हर प्रकार से सहायता करने का सरला बहन जी ने बीड़ा उठाया था। भादों के महीने में एक दिन रात के वक्त, वे कीचड़ में लथपथ नरसिंह जी के साथ हमारे घर अन्न माँगने आईं। मेरी इजा ने उनसे कहा—"बहन जी, वन्दे।" प्रत्युत्तर में उन्होंने भी 'वन्दे' कहा। सरला बहन ने कहा हमें जल्दी-जल्दी सब घरों में जाना है। यह सुनकर माँ भीतर से सूप में गेहूँ ले आई, और नरसिंह ने बोरा खोलकर गेहूँ उसमें डाले। सरला बहन ने धन्यवाद कहा, और वे लोग पीठ पर बोरी लादकर चले गए। इसी प्रकार 'बाखली' (आस-पड़ोस) के घरों से अन्न एकत्र कर वे रात को दस बजे पैदल कोसी नदी पार करके कौसानी लौट जाती थीं। उन दिनों नदी पर पुल नहीं था।"

शारदा जी को लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"शारदा! मैं पहले अपनी क़िस्मत पर विश्वास किया करती थी......मुझे लगता था कि मनुष्य अपने कर्मों के आधार पर अपनी क़िस्मत स्वयं बनाता है। लेकिन, अब मैं यह जान चुकी हूँ कि वास्तव में मनुष्य अपनी क़िस्मत स्वयं नहीं बना सकता। सच्चाई यह है कि मनुष्य क़िस्मत की धुरी पर घूमता रहता है। तभी तो मैं इंग्लैंड से उदयपुर आई, उदयपुर से सेवाग्राम, सेवाग्राम से अल्मोड़ा और आज सडसठ वर्ष की उम्र में मेरी क़िस्मत ने मुझे इस तरह असहाय भटकने के लिए छोड़ दिया। 1945 में जब मैंने पूना में बापू को क्रांतिकारियों की सेवा के बारे में बताया, तथा उनके पूछने पर अपने द्वारा किए गए एवं कराए गए कार्यों का विवरण उन्हें दिया, तब गाँधीजी ने मुझसे कहा था—"सरला अब तुम लुढ़कता पत्थर नहीं हो।" लेकिन आज गाँधी जी की कही हुई बात असत्य सिद्ध हो गई, और मैं

लुढ़कता पत्थर बनकर ही रह गई हूँ। आगे न जाने कब तक इसी तरह भटकती रहूँगी। शायद अब कभी मैं तुमसे नहीं मिल पाऊँगी। तुम सदा हँसती रहना, हरीश भाई का अच्छी तरह से ख़्याल रखना।''

यद्यपि सरकार के इस दुर्व्यवहार से सरला बहन अत्यन्त आहत हुईं, किंतु फिर भी वे न तो निराश हुईं, और न ही इंग्लैंड वापस गईं। अब भी उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य मानवसेवा ही था। अतः उन्होंने समर्पण-भाव से स्वयं को विनोबा जी के भू-दान आंदोलन से जोड़ लिया। इससे पूर्व भी वे लक्ष्मी आश्रम की बहनों को साथ लेकर भू-दान आन्दोलन के लिए सम्पूर्ण उत्तराखंड का परिभ्रमण कर चुकी थीं। इस बार उन्होंने बिहार, उड़ीसा, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र के गाँवों में जाकर आदिवासियों की व्यथा एवं पीड़ा को देखा और अनुभव किया। सरला बहन वहाँ की भूमि के मालिकों को प्रेरित करने लगीं कि वे निर्धन ग्रामीणों की भूख मिटाने के लिए, अपनी ज़मीन का दसवाँ भाग भूमिहीन लोगों को दान करें। उनकी बातों से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने अपनी भूमि दान की, और इसी तरह लोगों को प्रेरित करती हुई वे अपने कर्त्तव्य मार्ग पर चलती रहीं।

वे अत्यन्त निर्भीक एवं साहसी थीं। अतः जब सरला बहन को डाकुओं के परिवारों में जाकर उन्हें समझाने का कार्य सौंपा गया, तो उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार किया, तथा निष्ठापूर्वक अपने दायित्व को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील रहीं। सरला बहन डाकुओं से सम्पर्क स्थापित करने के लिए, दिन भर धूप में भटकती रहतीं, रात में कभी किसी मंदिर के आहातें में, कभी गौशाला में, तो कभी किसी प्राइमरी स्कूल की छत के नीचे करवटें बदलती हुई रात व्यतीत किया करती थीं। उनके अनेक साथियों के सहयोग तथा सरला बहन की प्रेरणा से सन् 1971-72 में मोहर सिंह तथा माधो सिंह जैसे 180 खूँखार डाकुओं ने आत्मसमर्पण किया। 1972 में चंबल घाटी शांति मिशन विचार-प्रचार उपसमिति में सचिव रहे, रामचन्द्र महरोत्रा जी ने उस समय की एक घटना का ज़िक्र करते हुए बताया—''एक बार जब उनके सहयोगी गोपाल भाई ने बाग़ियों के प्रति उपेक्षाभाव से कहा—''बहन जी डाकुओं की इतनी क्या परवाह करनी; बाग़ी-बाग़ी ही तो हैं, कोई नवाब तो नहीं।'' गोपाल की इस बात को सुनकर वे बहुत आहत हुईं, और बिगड़कर बोलीं—''डाकू आदमी नहीं होते क्या? तुम और हम आख़िर हैं क्या? जो कमाता नहीं, जो मेहनत नहीं करता, वह है असली डाकू।'' सरला बहन इतनी सहृदय थीं कि वे डाकुओं की ज़रूरतों का भी उतना ही ख़्याल रखती थीं जितना अपना।

सरला बहन के प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं उनकी निःस्वार्थ मानवसेवा का

ही परिणाम था कि उनके समाज सुधार संबंधी कार्यों से प्रभावित होकर अन्ततः भारत सरकार को अपनी भूल का अहसास हुआ, और उसे उन पर लगाए गए प्रतिबंध को हटाना ही पड़ा। अब वे स्वतंत्रतापूर्वक कहीं भी आ-जा सकती थीं। इसी बीच उन्हें उत्तराखंड खादी बोर्ड ग्रामोद्योग सलाहकार समिति की अध्यक्षा भी मनोनीत कर लिया गया। यह उनकी देशभक्ति एवं सत्यनिष्ठा का ही प्रभाव था कि वे उत्तराखंड में चलाए गए शराबबंदी आंदोलन की क्रियाशीलता को गति प्रदान करने के लिए, प्रतिबंध हटने से पूर्व भी निर्भीकतापूर्वक वहाँ आती-जाती रहती थीं। उनके व्यक्तित्व की एक विशेषता यह भी थी कि वे किसी कार्य को प्रारम्भ करके उसे कभी-भी बीच में अधूरा नहीं छोड़ती थीं।

यद्यपि सरला बहन स्वयं अविवाहिता थीं, किंतु उन्होंने अनेक लोगों के विवाह में महत्त्वूपर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने भारतीय समाज में, स्त्री-पुरुष के संबंधों के प्रति जिस संकीर्ण मानसिकता का अनुभव किया, उससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचीं कि यहाँ के लोगों को विवाह अवश्य करना चाहिए। भू-दान आन्दोलन में गढ़वाल यात्रा के मध्य उनके सहयोगी रहे मानसिंह रावत जी ने सुभाष चन्द्र बोस, तथा जय प्रकाश जी से प्रेरित होकर विवाह न करने का निश्चय किया था। जब सरला बहन को मानसिंह जी के इस निश्चय का पता चला तो वे बोलीं—''मैं अपने अनुभव से यह कह सकती हूँ कि इस देश में और ख़ासकर पहाड़ में, समाज सेवक को विवाह करना ही चाहिए। समाज सेवक के लिए समाज का विश्वास प्राप्त करना आवश्यक है। यहाँ पर अपनी माँ-बहन के साथ चलने पर भी समाज उँगली उठाता है, संदेह करता है। समाज सेवक को तो माँ-बहन सभी की सेवा करनी होती है। ऐसे में समाज का संदेहास्पद होकर वह कैसे आगे बढ़ेगा?'' सरला बहन की इन बातों से प्रभावित होकर मानसिंह जी ने अपना निश्चय बदल दिया, और उनके द्वारा पसन्द की गई बालिका से ही विवाह किया।

एक बार जब किसी ने सरला बहन से प्रश्न किया—''माता जी, आपने अपना देश क्यों छोड़ा?''

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—''मुझे यह प्रश्न उद्वेलित किया करता था कि कौन-सा रास्ता संसार की समस्याओं का समाधान कर सकता है। इसका उत्तर था—भावात्मकता ही पृथ्वी पर शांति, सहकार तथा श्रम को प्रतिष्ठित कर सकती है। तब मुझे लगा—कम-से-कम पश्चिमी सभ्यता तो यह काम नहीं कर सकती। इसी प्रश्न की खोज एवं यही प्रेरणा मुझे भारत ले आई।''

महात्मा गाँधी के सत्य-अहिंसा एवं प्रेम के मानवतावादी ओजस्वी आह्वान

ने कैथरीन को सरला बना दिया। वे गाँधीजी के पथ का अनुसरण करती हुई जाति-धर्म की संकुचित सीमाओं से निकलकर, आजीवन मानवता के मुक्ताकाश में विचरण करती रहीं। सरला बहन जीवनपर्यंत अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व के माध्यम से, अपने संपर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को—हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख तथा ईसाई आदि धर्मों की कट्टरता तथा संकीर्ण मानसिकता से निकलकर मानवतावाद के व्यापक दृष्टिकोण को अपनाने की प्रेरणा देती रहीं।

जीवन के अंतिम वर्ष

प्रकृति अपनी मौन भाषा में प्रतिक्षण अपने उपकरणों के माध्यम से मनुष्य को सदैव कुछ-न-कुछ सिखाती रहती है; किंतु भौतिक उपकरणों के शोरगुल और चकाचौंध से प्रभावित होने के कारण, हममें से बहुत कम लोग उसके मौन को सुन पाते हैं, तथा उसकी शिक्षा के अनुरूप जीवन यापन करते हैं। प्रकृति से प्रेम करने वाली सरला बहन का जीवन प्रकृति-सदृश सरल एवं पारदर्शी था। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में वह लोगों के बनावटी व्यवहार से इतना अधिक खिन्न हो चुकी थीं कि एकान्तवास करना चाहती थीं। राधा बहन उनके साथ बिताए क्षणों को याद करती हुई कहती हैं—"मेरे पूर्वजन्म के किसी पुण्य कर्म के फलस्वरूप ही मुझे बहन जी का सान्निध्य मिला। जब मैं पंद्रह वर्ष की थी तब से बहन जी के जीवन के अंतिम क्षणों तक उनके साथ रहने का सौभाग्य मुझे मिला। आज मैं जो कुछ भी हूँ, मुझे उन्हीं के द्वारा गढ़ा गया है। बहन जी जीवन के अंतिम वर्षों में एकान्तवास चाहती थीं; इसलिए वे धरमघर (पिथौरागढ़) कोटमन्या के हिमदर्शन कुटीर में रहीं।"

सरला बहन आजीवन तन-मन-धन से समर्पित होकर जनसेवा करती रहीं। धीरे-धीरे वे यह अनुभव करने लगी थीं कि लोग समाजसेवा एवं राष्ट्रसेवा के नाम पर, केवल अपने लिए भौतिक सुख-सुविधाएँ जुटाने एवं सम्मान प्राप्ति की होड़ में लगे हुए हैं। वे लोगों की कथनी एवं करनी के भेद को स्पष्टतः देख पा रही थीं। एक ही व्यक्ति के दोहरे चेहरे को देख-देखकर वे पूर्णतः ऊब चुकी थीं। लोगों के पशुवत् स्वार्थी व्यवहार एवं भौतिकतावादी स्वभाव से खिन्न होकर ही सरला बहन ने अपनी जन्मस्थली ग्रेट ब्रिटेन को छोड़कर भारतवर्ष की पुण्य भूमि को अपनी कर्मस्थली बनाने का निश्चय किया था। अतः वे किसी ऐसे स्थान पर जाकर रहना चाहती थीं, जहाँ उन्हें लोगों के व्यवहार में प्रकृति जैसी निश्छलता एवं सरलता अनुभव हो सके।

वे वर्तमान समाज के बुद्धिजीवियों की अदूरदर्शिता से अत्यन्त खिन्न थीं।

उन्होंने अपनी पुस्तक 'व्यावहारिक वेदान्त एक आत्मकथा' में स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"जिस प्रकार वेश्या अपने शरीर को ऊँचे दामों पर बेचने की कोशिश करती है, आजकल उसी प्रकार बुद्धिमान मानव अपनी बुद्धि को सबसे ऊँचे भौतिक बाज़ार में बेचने की कोशिश करता है। यह वेश्या-वृत्ति, उस वेश्या-वृत्ति से अधिक घृणित और नाशकारी है। वैज्ञानिक, आणविक बुद्धि के सर्वनाशक साधनों की वृद्धि में प्रयोग करते हें, और व्यक्तिगत तथा संगठित स्वार्थ के लिए, तकनीकी आविष्कारों एवं खोजों के उपयोग की दिशा निर्धारित करते हैं, इसके बदले में हमें ख़तरनाक तथा संदूषण का उपहार मिलता है।"

सरला बहन अनुशासन प्रिय होने के साथ ही एक लेखिका एवं कुशल वक्ता भी थीं। गाँधी शताब्दी वर्ष 1968 में, वे 'ग्राम स्वराज संघ' के निमंत्रण पर दक्षिण भारत से बेरीनाग पहुँचीं। 2 अक्टूबर के दिन जब उन्होंने एक विशाल जनसभा को संबोधित किया, तो लोग मंत्रमुग्ध होकर उन्हें घंटों सुनते रहे। पंद्रह दिनों तक इसी तरह अनेक गाँवों में जाकर, वे वहाँ की जनसभा को अपने विचारों से जाग्रत करती रहीं। सरला बहन को उस क्षेत्र, तथा वहाँ के लोगों ने इतना अधिक प्रभावित किया कि तब से प्रतिवर्ष वे आठ-दस दिनों के लिए बेरीनाग अवश्य जाया करती थीं।

उत्तराखंड की ही नहीं, देश की विभिन्न संस्थाएँ समय-समय पर सरला बहन को आमंत्रित किया करती थीं; किंतु वे वहाँ बहुत कम जाया करती थीं। संस्थाओं के निमंत्रण का सम्मान करते हुए, अधिकांशतः वे अपनी सहयोगी राधा दीदी एवं कांति दीदी जैसी अन्य योग्य शिष्याओं को ही भेज दिया करती थीं। इसका एक कारण तो यह था कि वर्षों कार्य के सिलसिले में इधर-उधर भटकते हुए उनका शरीर शिथिल हो चुका था, और दूसरा प्रमुख कारण था कि अब तक वे लगभग सभी संस्थाओं एवं आश्रमों के वास्तविक स्वरूप से परिचित हो चुकी थीं। वे इन संस्थाओं की कार्य-पद्धति से संतुष्ट नहीं थीं।

1974 में एक बार जब वे 'ग्राम स्वराज संघ, बेरीनाग' गई हुई थीं, तब एक दिन प्रातःकाल नाश्ता करते समय अचानक उन्होंने संघ के संचालक भाई सदन प्रसाद मिश्र जी से कहा—"मैं मुनस्यारी जाना चाहती हूँ? क्या आप चल सकेंगे?"

मिश्र जी ने कहा—"अवश्य चलूँगा, किंतु वहाँ का कार्यक्रम क्या होगा?"

सरला बहन ने बताया—"मैं वहाँ एक कुटिया हेतु स्थान-चयन करना चाहती हूँ।"

उनके मनोभावों को समझकर सदन मिश्र ही ने उन्हें सुझाव देते हुए कहा—"स्थान तो यहाँ भी चयन किया जा सकता है। यदि आप चाहें, तो संस्था की गतिविधियों से दूर रहते हुए भी, संस्था के निकट रहेंगी, तथा इससे आपको हर दृष्टि से सुविधा ही होगी।"

सरला बहन को उनका यह सुझाव पसंद आया। उसके बाद मिश्र जी उन्हें प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर वह स्थान दिखाने ले गए, जो सभी के आकर्षण का केन्द्र था, और वर्षों से स्वयं सदन भाई जी को भी अत्यंत प्रिय था। वहाँ के सघन वन तथा हिमाच्छादित पर्वत शृंखलाओं को देखकर, वे भावविभोर होकर बोल उठीं—"वास्तव में यह तो जीवित स्थान है।"

अपनी कुटिया के लिए प्राकृतिक संपदाओं से सम्पन्न स्थान का चयन करके वे अपने अधूरे कार्यों को पूरा करने हेतु पुनः दक्षिण भारत चली गईं। सरला बहन के जाने के पश्चात् सदन भाई के प्रयास से, स्थानीय प्रशासन तथा स्थानीय लोगों ने आश्रम बनाने हेतु सरला बहन को पचास नाली चार मुट्ठी ज़मीन प्रदान की। उत्तराखंड की समस्त संस्थाओं, स्थानीय प्रशासन तथा स्थानीय लोगों ने कुटिया के निर्माण-कार्य में सहयोग किया। शीघ्र ही कुटिया बन कर तैयार हो गई।

12 मई 1974 को सरला बहन ने 'हिम-दर्शन कुटीर' में पदार्पण किया। वहाँ के सुरम्य वातावरण का ही प्रभाव था कि यहाँ रहकर उन्होंने चिन्तन के साथ लेखन भी प्रारम्भ कर दिया। जीवन के अंतिम वर्षों में वे पर्यावरण संबंधी चिन्तन एवं लेखन अधिक किया करती थीं। इसी कुटिया में उन्होंने 'पर्वतीय विकास की सही दिशा' 'संरक्षण या विनाश' तथा 'रिवाइव अवर डाइंग प्लैनेट' नामक पुस्तकें लिखी थीं। वहाँ भी वे समय निकालकर कताई किया करती थीं।

धरमसिंह कार्की जी बताते हैं—"मैं 'हिमदर्शन-कुटीर' के पुस्तकालय से पढ़ने के लिए पुस्तकें ले जाता था। मुझे मालूम था कि बहन जी समय की बहुत पाबंद हैं, अतः जब कभी पुस्तकें पढ़ने को कुछ शेष रह जातीं, तब भी मैं निश्चित समय पर उन्हें लौटाने जाता था। जब मैं बहन जी के पास जाता, तो कभी खाली नहीं बैठता था; उनके पास रखे मोढ़े पर बैठकर कतुए पर ऊन कातता रहता था। कताई में मेरी रुचि देखकर बहन जी ने मुझे ऊन धोने की व्यवस्थित विधि उसी तरह बताई, जैसे प्राचीनकाल में गुरु अपने शिष्य को उँगली पकड़कर वर्णमाला का लेखन बताते थे।"

उन्हें प्रकृति से बहुत लगाव था। यही कारण था कि वे आश्रम में प्रत्येक ऋतु के अनुसार फूल ही नहीं, विविध शाक-सब्जियाँ भी लगाया करती थीं। उनका

प्रकृति प्रेम ही उन्हें धरमघर के सुरम्य प्राकृतिक वातावरण में ले आया। धरमघर में उनके निकटस्थ रहे सदन मिश्र जी ने बताया—''बहन जी को 'सिल्वर ओक' एवं 'पदम' के वृक्ष अत्यंत प्रिय थे।''

बात उन दिनों की है, जब 1981 में वे जनपद पिथौरागढ़ के 'धरमघर' नामक स्थान में रह रही थीं। उनका शरीर क्षीण होने लगा था, किंतु उनकी व्यवस्थित दिनचर्या में कोई अंतर नहीं आया था। वे नियमित रूप से पठन-पाठन, रसोई, तथा खेती के कार्यों के साथ ही, दूर-दूर के गाँवों से आए मरीज़ों को होमियोपैथी की दवाएँ बाँटा करती थीं। गंगोत्री गर्ब्याल जी बताया करती थीं—''जब भी मैं 'हिमदर्शन'-कुटीर' जाया करती थी, हमेशा उनसे मिलकर बहुत प्रसन्नता होती थीं। वे सदा दलिया, डबलरोटी स्वयं बनाया करती थीं। स्वास्थ्य ठीक रखने पर ज़ोर देती हुई कहा करती थीं—''मैंने शरीर का बहुत शोषण किया, अतः फल भोग रही हूँ।'' 1976 के बाद, वे हिमदर्शन कुटीर में अपने स्वास्थ्य से जूझ रही थीं। प्रायः बोल नहीं पाती थीं, किंतु उनमें रोग से लड़ने की अद्‌भुत शक्ति थी।

सन् 1981 के जून माह में, सरला बहन को श्वास लेने में अत्यधिक कष्ट होने के साथ ही, उनके पैरों में सूजन भी बढ़ने लगी। अतः उनकी ऐसी स्थिति देखकर समस्त आत्मीयजनों के आग्रह पर एक दिन सदन जी ने उनसे पूछा—''बहिन जी! यदि आपको कुछ हो गया, तो हम आपका अंतिम संस्कार किस विधि से करेंगे?'' यह सुनकर वे आहत हो उठीं, और झुँझलाते हुए बोलीं—''मेरा नाम सरला देवी है, इससे आपको अंदाज़ा लगा लेना चाहिए।''

1981 में दीपावली के अवसर पर जब शारदा जी, सरला बहन के आमंत्रण पर अपने बच्चों के साथ, एक सप्ताह के लिए उनके तात्कालिक निवास धरमघर गई हुई थीं, तब एक दिन उन्होंने अंतरंग बातचीत के मध्य सरला बहन से पूछा—''बहिन जी! भारत आने के बाद क्या आपकी कभी इंग्लैंड जाने की इच्छा हुई?''

तब सरला बहन ने बताया—''जब मैं भारत आई, तो अपने सेवा कार्य से बहुत खुश थी, लेकिन कभी-कभी कुछ विपरीत परिस्थितियाँ जीवन में आ ही जाती हैं। बापू की मृत्यु का समाचार मेरे जीवन का ऐसा ही क्षण था। जिस दिन मैंने उनकी मृत्यु का समाचार सुना, तो मुझे लगा—आज मैं अनाथ हो गई हूँ, इतने विशाल देश में मेरा यहाँ कौन है, जिनके नाम से मैं इंग्लैंड छोड़कर भारत आई; और जिनकी आज्ञा पर मैंने छोटे-छोटे बच्चों की ज़िम्मेदारियाँ लीं; अब उनका क्या होगा? मुझे यहाँ रहना चाहिए, या नहीं? मेरे मन में उथल-पुथल-सी मच गई।

.....उस दिन मैं बहुत रोई, फिर मैंने धीरे-धीरे खुद को सँभाला, अपने छोटे-छोटे बच्चों के भोले-भाले चेहरों को देखा, और फिर काम शुरू कर दिया।......लेकिन, कुछ समय बाद फिर दुर्भाग्य ने मुझे आ घेरा।.........जब चीन और पाकिस्तान की लड़ाई के दिनों में सरकार ने मुझे विदेशी घोषित कर दिया, तब मेरे पैरों के नीचे से जमीन ही खिसक गई। मेरी उम्र का 66वाँ वर्ष, दिसम्बर का महीना, कड़ाके की ठंड, मैं समझ नहीं पा रही थी कि जाऊँ तो कहाँ जाऊँ? मैंने अपने बूढ़े शरीर से कहा—"मेरे दोस्त! मैं तुझे किस दिशा में ले जाऊँ?" उस दिन भी मैं बहुत रोई थी, तथा उस दिन पहली बार मुझे इंग्लैंड, अपने पिता, भाई व मित्रों की बहुत याद आई। वर्षों बाद मैंने सोचा—न जाने वे किस हालत में होंगे।"

सरला बहन विश्वबन्धुत्व का जीवंत उदाहरण थीं। वह स्वयं को किसी देश, धर्म और भाषा के बंधन में नहीं बाँधना चाहती थीं। उनका एकमात्र धर्म और कर्म मानवसेवा करना था। जब शारदा जी ने उनसे कहा—"बहिन जी आपको भारत आए 49 वर्ष हो गए हैं, आपने इतने वर्ष कष्टकारी जीवन जीते हुए भारत की निःस्वार्थ सेवा की, लेकिन अभी तक आपने यहाँ की नागरिकता क्यों नहीं ली?"

तब वे गम्भीर स्वर में बोलीं—"शारदा! जनसेवा करते हुए, मैं यह भूल ही गई थी कि मैं विदेशी हूँ। जब मैं भारत आई, तो सेवा को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर आई थी, और यहाँ आते ही गाँधी जी के अहिंसा आन्दोलन से ऐसी जुड़ी की स्वयं को भी भूल गई। मैं सोचती हूँ—आज जितने भी प्रमाणित नागरिक हैं, क्या वे सचमुच में अपने देश के प्रति वफादार होते होंगे? शारदा! मुझे भारत ने आज तक तो कागज के टुकड़े से मान्यता नहीं दी है, हो सकता है मरने के बाद दे देगी। यह तुम देख पाओगी, लेकिन मैं दावे से कहती हूँ कि जो भी भारतीय मेरे बारे में जानेगा, वह कभी-भी मुझे किसी भारतीय से कम नहीं मानेगा; लोगों के दिलों की मान्यता ही मेरे लिए सच्ची नागरिकता होगी।"

बहन जी के जीवनकाल में ही राधा दीदी की प्रयत्नशीलता तथा सरला बहन का सत्यनिष्ठ सेवाभाव रंग लाया; उसके परिणामस्वरूप तात्कालिक उपप्रधानमंत्री मोरारजी देसाई की संस्तुति से 1968 में गृहमंत्रालय ने उन्हें भारतवर्ष के किसी भी भू-भाग में स्वतंत्रतापूर्वक घूमने का 'अनुमतिपत्र' प्रदान किया।

पर्यावरण के प्रति वे इतना सजग थीं कि अपने संपर्क में आनेवालों को सदैव पर्यावरण-संरक्षण के लिए प्रेरित करती रहती थीं। वह कोई वैज्ञानिक नहीं थीं; किंतु अपनी संवेदनशीलता तथा व्यावहारिक बुद्धिबल से यह बात भली-भाँति

समझती थीं, किस प्रकार मानव के अति दोहन से प्राकृतिक संतुलन बिगड़ता जा रहा है, वे कहती थीं-''यदि मनुष्य प्रकृति के नियमों को समझकर प्रकृति को गुरु मानकर उसके साथ सहयोग करेगा, तो प्रकृति और मनुष्य दोनों स्वस्थ रह सकते हैं।''

उनकी प्रबल इच्छा थी कि मरणोपरांत उनकी राख पर दो वृक्ष लगाए जाएँ। सुशील चन्द्र डोभाल जी जब सरला बहन जी की बातें करतें हैं, तो भावविभोर होकर बताते हैं—''उनके हृदय में प्रत्येक प्राणी के लिए असीम प्यार, तथा शब्दों में सबके कल्याण की कामना हुआ करती थी। मवेशियों को सदा खूँटे से बाँधे रखने पर उन्हें आपत्ति थी, और वृक्षों की अनियमित एवं अनियंत्रित कटाई से उन्हें चोट पहुँचती थी। अधिक मोटर सड़कों के निर्माण और अति आधुनिकीकरण से उन्हें मानव का भविष्य अंधकारमय लगता था।''

वे कहा करती थीं—''प्रकृति के विरुद्ध मानव का लड़ाई छेड़ना, और प्रकृति के साथ अधिक छेड़छाड़ करना ही हमारी समस्याओं का मूल कारण है।''

दादी के सद्संस्कारों के कारण प्रकृति-पर्यावरण के संरक्षण का बीजवपन उनके मस्तिष्क में बाल्यकाल में ही हो गया था। अतः जब उन्होंने अपने आस-पास युवा वृक्षों को लगातार कटते, पर्वतों को नग्न-भग्न होते हुए देखा; लोगों को अपने स्वार्थ एवं धनलोलुपता के लिए प्रकृति का निर्ममतापूर्वक दोहन करते हुए तथा पर्यावरण को प्रदूषित करते हुए देखा तो उनका संवेदनशील हृदय चीत्कार कर उठा। प्रकृति प्रेम के जो बीज उनके भीतर संचित थे वे अंकुरित होकर उनकी जीवनशैली के रूप में प्रकट होने लगे। जीवन के अंतिम वर्षों में जब वे प्रकृति के सान्निध्य में धरमघर, पिथौरागढ़ में एकांतवास कर रही थीं, तब भी वे पर्यावरण संरक्षण को लेकर इतना चिंतित थीं कि उन्होंने अपने विचारों को पुस्तकाकार रूप में जन-जन तक पहुँचाने का निश्चय किया। अपनी पुस्तक 'संरक्षण या विनाश' की भूमिका में उन्होंने अपनी दादी की अविस्मृत स्मृति को इस प्रकार प्रकट किया है—''दक्षिण जर्मनी के पर्वतीय वनों के किसान की पुत्री अपना पूरा जीवन पश्चिमी नगरों में बिता चुकी थी; फिर भी लंदन के उपनगर में फल-फूल-तरकारी का ऐसा बग़ीचा पालती थी, जिसकी उपज देखकर लोग विश्वास नहीं कर पाते थे कि यह दूर देहात से नहीं आया होगा। लेकिन, एक विशेष प्रसंग का अत्यंत प्रभाव मेरे बचपन के कोमल मन पर पड़ा। एक दिन अचानक अनजाने में उनके हाथों से डबलरोटी का एक टुकड़ा जल गया। वह देखकर वे कई दिनों तक अत्यन्त परेशान होकर कहती रहीं—''मुझे लगता है मानो मैंने एक बच्चे को जला दिया

है।'' मैं मानती हूँ वहीं से प्रकृति प्रेम तथा उसके उत्पादन का संरक्षण करने के विचार का जन्म हुआ और मेरे रोम-रोम में बैठ गया था।''

वास्तव में वह अपनी दादी की तरह ही अत्यंत संवेदनशील थीं। अपने इस विशेष गुण के कारण ही वे प्रकृति के कण-कण से प्रेम करती थीं और प्रकृति से मानव को जोड़ने के विषय में सोचती थीं। वह बाल्यकाल में विद्यार्थियों को पुस्तकों के माध्यम से दिए जानेवाले ज्ञान को अव्यावहारिक ज्ञान मानती थीं। उनका मानना था, हमें अपने भविष्य को सुरक्षित रखने के लिए बाल्यकाल से ही बच्चों को वनस्पति-जगत से जोड़ना चाहिए; क्योंकि—''वनस्पति ही एकमात्र यंत्र है जो अपनी खुराक को तैयार करके उसी पर जीवन यापन करती है और दूसरों को खिलाकर भी जीवित रह सकती है। इसलिए वनस्पति जगत को कायम रखना तथा उसके द्वारा दुनिया की बढ़ती हुई आबादी को पालना वांछनीय ही नहीं, अनिवार्य भी हो गया है।''

उन्होंने अपने नाम अथवा पद के विषय में कभी नहीं सोचा। जब तक वह जीवित रहीं, प्राणीमात्र के कल्याण के विषय में सोचती रहीं; मानव को मानव से जोड़ने के विषय में चिंतन करती रहीं। विकास के नाम पर हो रहे विनाश की तैयारी को देखकर वह व्यथित होकर कहती थीं—''जो धन हम युद्ध पर अथवा युद्ध की तैयारी पर व्यय कर रहे हैं; यदि वह विनाश के बदले विकास पर करते, तो क्या इस दुनिया में बहार न आ जाती?.......हम चंद्र, मंगल, और शुक्र की परिस्थितियों की खोज करने पर खरबों रुपए ख़र्च कर रहे हैं; लेकिन अपने पड़ोसी के दिल में क्या दुःख या वेदना है, इसमें हमें कतई दिलचस्पी नहीं।''

सरला बहन बापू की ऐसी शिष्या थीं, जिन्होंने सदैव उनका अंधानुकरण किया। वे गाँधी जी के व्यक्तित्व से इतना अधिक प्रभावित थीं कि एक बार जब उन्होंने बापू से प्रेरित होकर एलोपैथिक दवाइयों का सेवन करना छोड़ दिया, तो आजीवन कभी भी उनका सेवन नहीं किया। उनके आत्मसंयम का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है कि जीवन के अंतिम वर्षों में जब वे गंभीर रोगों का शिकार हो गईं, तब भी चिकित्सकों तथा अपने शुभचिंतकों के आग्रह करने पर भी, उन्होंने आयुर्वेदिक एवं होमियोपैथिक औषधियों के अतिरिक्त कोई अन्य औषधि लेना स्वीकार नहीं किया। सरला बहन के अखंड आत्मिक-विश्वास के कारण ही गाँधी जी उनसे बहुत अगाध प्रेम किया करते थे। हमेशा की तरह जब एक दिन सरला बहन बापू की 'ज़िंदा लाठी' के रूप में बगीचे में घूमते हुए, उनके अनुभवों के बारे में चर्चा कर रही थीं, तो एक पारसी बहन ने पूछा—''महात्मा!

आप एक अंग्रेज़ महिला से इतना प्रेम क्यों करते हैं?''

''क्योंकि जब उससे यह कहा गया–प्राण का न सही दिमाग का सवाल तो है ही, फिर भी इसने क्वीनीन लेने से इंकार कर दिया था।'' बापू ने बताया।

यह बात वर्षों पुरानी तब की थी जब सरला बहन सेवाग्राम में थीं। उन दिनों उन्हें बार-बार मलेरिया बुखार आ रहा था; तो डॉ. ने उन्हें सलाह दी- ''या तो प्राकृतिक चिकित्सा कराएँ या क्विीनीन लें।'' डॉ. की सलाह पर सरला बहन को अपनी प्राकृतिक चिकित्सा पर समय और पैसे खर्च करना ठीक नहीं लगा; उन्होंने कहा–''मुझे लगता है, मैं उदयपुर चली जाऊँ, तो अपना इलाज स्वयं कर सकती हूँ।''

बापू ने कहा था–''तुम्हारी व्यावहारिक बुद्धि पर मुझे भरोसा है। इसलिए जैसे मैं अपने विवेक के मुताबिक काम करता हूँ, वैसा करने की इजाज़त तुम्हें भी दे रहा हूँ। तुम अपना इलाज खुद करो मगर हर हफ़्ते डॉ. से अपना चेकअप कराती रहना।''

वे समय की बहुत पाबंद थीं, तथा जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना उनका स्वभाव था। वे आजीवन निःस्वार्थभाव से दूसरों की सेवा करते हुए अपना प्रत्येक कार्य स्वयं करती रहीं। किंतु, भाग्य को कुछ और ही मंजूर था। अतः अपने भौतिक जीवन के अंतिम वर्ष में, रानीबाग़ प्रवास के दौरान जब उनका शरीर अत्यंत शिथिल हो गया था, तब विवश होकर उन्हें दूसरों की सेवा लेनी पड़ी। वास्तव में वे लोग सौभाग्यशाली होते हैं, जिन्हें अपने माता-पिता अथवा गुरु की सेवा का अवसर मिलता है; क्योंकि अपनी सेवा के माध्यम से वे उन्हें उनके जीवनकाल में ही इस आनंद की अनुभूति कराने में सफल हो जाते हैं कि उनकी दी हुई शिक्षा एवं संस्कार निरर्थक नहीं गए। जब तक व्यक्ति स्वस्थ एवं सक्षम होता है, तब तक अपरिचित लोग भी किसी-न-किसी लालसा अथवा स्वार्थवश उसकी सेवा को आतुर रहते हैं; किंतु जब वह अशक्त तथा असहाय हो जाता है, तब उसके आस-पास केवल वही लोग नज़र आते हैं, जिनके हृदय में उनके लिए अथाह आदर, आत्मीयता तथा श्रद्धाभाव होता है। निःसंदेह लोकलाज के भय से अथवा किसी मजबूरी के कारण भी लोग ऐसा करते दिखाई देते हैं; किंतु उनकी देहभाषा उनके मनोभावों को छिपा नहीं पाती।

इस दृष्टि से लक्ष्मी आश्रम की ही एक छात्रा 'निर्मला देव' सौभाग्यशालिनी थीं; जिन्हें एक ऐसी संत की सेवा का सुअवसर प्राप्त हुआ, जिसने उम्रभर लोगों की निःस्वार्थ सेवा की। निर्मला बहन एक माँ की तरह, सरला बहन को खिलाने-पिलाने

से लेकर शौचादि तक, उनके सभी कार्य पूर्ण सेवा एवं श्रद्धाभाव से किया करती थीं। निर्मला देव उन दिनों को याद करती हुई कहती हैं—"जब मैं पूज्य बहन जी के पास गई, तो उन्होंने मुझसे पूछा—'निर्मला क्या तुम मेरी सेवा ठीक प्रकार से कर पाओगी?' उनके इस प्रश्न को सुनकर मुझे कुछ घबराहट-सी हुई, क्योंकि बहनजी समय की बहुत पाबंद थीं। ठीक समय पर अनेक बार उन्हें रात-दिन दवा देना, खाना-खिलाना तथा उनकी निश्चित दिनचर्या के अनुसार उनके कार्य करना; यह कोई आसान काम तो था नहीं। किंतु, धीरे-धीरे सीखने और करने पर मुझे सरलता का अनुभव होने लगा, तथा मुझे उनकी सेवा करने में आनंद भी आने लगा; क्योंकि हालत गंभीर होते हुए भी वह हमेशा मुझसे पूछती रहती थीं—"तुम्हें कष्ट तो नहीं हो रहा है?" वे मेरे खाने-पीने आदि का भी ख्याल रखती थीं, तथा आने-जाने वालों से कहती रहती थीं—"निर्मला ने मेरी बहुत सेवा की।" उन दिनों रात-दिन अकेली होने के कारण कभी-कभी मुझे उदास लगता था, कभी कष्ट भी होता था, लेकिन अब मुझे गर्व होता है कि मैंने उस महान आत्मा की सेवा की।"

आश्रम की अनेक बालिकाओं की तरह शोभा जी को भी सरला बहन ने माँ बनकर वात्सल्य-सुख दिया, तथा शिक्षिका बनकर उनके जीवन को उचित दिशा प्रदान की। 1981 में जब शोभा बहन जी उनसे मिलने 'हिम दर्शन-कुटीर' आईं, तो सरला बहन जी ने उनसे कहा—"तुम यहाँ रहने का निश्चय करोगी, तो मुझे यहाँ तुम्हारे बारे में निश्चिंतता रहेगी। मैं हिमदर्शन कुटीर को एक ऐसे व्यक्ति के हाथों में सौंपना चाहती हूँ, जो इस जगह को एक सही दिशा दे सके। तुममें, मैं वह सब पाती हूँ।" वर्तमान में वे सरला बहन की अभिलाषा के अनुरूप 'हिमकुटीर' धरमघर का संचालन कर रही हैं। शोभा बहन ने बताया है—"वे प्रचार को एकदम नापसंद करती थीं, वे कहती थीं—"हम प्रकाश करेंगे, तो वह स्वतः फैल जाएगा।" जो प्रचार के चक्कर में पड़ते हैं उनके बारे में बहन जी कई बार कहती थीं—"प्रचार में हमेशा अतिशयोक्ति होती है, जो कि एक प्रकार से समाज को धोखा देने के बराबर ही है।"

देह त्यागने से कुछ दिन पूर्व यद्यपि वे बोलने में सक्षम नहीं थीं, किंतु फिर भी उसकी चिन्तनशीलता एवं स्मरण-शक्ति में तनिक भी शिथिलता नहीं आई थी। आश्रम की छात्रा पूनम कुंजवाल ने अपने अविस्मरणीय क्षणों को बाँटते हुए कहा—"1982 में जब मैं सरला बहन जी से मिलने स्वराज मंडल रानीबाग गई, तो बहन जी ने पूछा—"पूनम तुमने एम.ए. में एडमीशन ले लिया, उसके बाद

क्या करने का विचार है?" मैंने यूँ ही कह दिया—'यदि अच्छे नंबर आएँगे, तो जनजाति पर पीएच. डी. करने का विचार है।" इतना सुनना था कि बहन जी का गुस्सा बेकाबू हो गया, बोलने की स्थिति में न होते हुए भी वे बोलने लगीं—"भई यह एकदम बेकार विचार है। क्या तुममें इतनी हिम्मत है कि किसी जनजाति के बीच जाकर अध्ययन कर सकती हो? अगर लाइब्रेरी में ही बैठकर किताबी कीड़ा बनकर उनके बारे में लिखना चाहती हो, तो यह बिल्कुल अनुपयुक्त है।" वास्तव में शारीरिक रूप से अस्वस्थ होते हुए भी वे मानसिक रूप से पूर्णतः स्वस्थ थीं। तभी तो उन्होंने अपनी बातों के माध्यम से वर्तमान शिक्षा-पद्धति को चुनौती ही नहीं दी, वरन् अप्रत्यक्षतः यह भी संदेश दे दिया कि व्यक्ति का विकास उसकी मौलिकता में है, कृत्रिमता में नहीं।

एक ओर जहाँ वे अनुशासन प्रिय तथा गंभीर चिन्तक थीं, वहीं दूसरी ओर अत्यंत विनोदप्रिय भी थीं। अपने विनोदी स्वभाव के कारण वे विषम से विषम परिस्थिति को भी सामान्य बना देती थीं। 1982 में जब उनका शारीरिक एवं मानसिक कष्ट चरम पर था, उन दिनों सरला बहन जी के सेवाकार्य में राधा दीदी का सहयोग करने कौसानी आश्रम से नैनीताल आईं पुष्पा बहन बताती हैं—"उन दिनों बहन जी को श्वास लेने में बहुत कष्ट होता था, अतः वे लेट नहीं पाती थीं। एक दिन लगभग पौन घंटे तक उनके गले से रस्सीदार बलग़म निकलता रहा, और वे झुकी-झुकी चिलमची में उतनी देर तक कुल्ले करके खँखारती हुई कफ़ निकालती रहीं; मैं उनके हाथों में पानी डालती रही, बाद में वे दीदी से कहने लगीं—"आज पुष्पा ने और मैंने बड़ा उद्योग किया है, एक गट्ठर रस्सियाँ तैयारकर दीं।" शरीर के इतने कष्ट को इस प्रकार विनोद में लेने की उनकी शक्ति से मैं बहुत प्रभावित हुई।"

सरला बहन को हिमालय से बहुत लगाव था। 1982 में जब सदन भाई, अपनी पत्नी के साथ उनसे मिलने 'आनंद-निवास' नैनीताल गए, तब उन्होंने अत्यंत करुण स्वर में मिश्र जी से कहा था—"मैं 'हिमदर्शन कुटीर' को देखने के लिए तरस गई हूँ, मुझे जैसे-तैसे वापस ले चलो।"

किंतु, मार्ग की दुर्गमता एवं स्वास्थ्य-सुविधाओं के अभाव के कारण उन्हें 'हिमदर्शन कुटीर' धरमघर ले जाना संभव नहीं था, अतः उनकी यह अभिलाषा पूर्ण नहीं की जा सकी।

श्रद्धेय पूर्णानंद सनवाल जी की पुत्री गंगादेवी, जिनके घर 'आनंद निवास' नैनीताल में सरला बहन ने जीवन के अंतिम दिवस व्यतीत किये, ने लिखा है—"एक

दिन मैंने उनसे कहा—आपने अपने शरीर के साथ बहुत अन्याय किया है, उसी का फल प्रकृति आपको दे रही है, तो उन्होंने सहमति व्यक्त करते हुए कहा—'हाँ प्रकृति के ख़िलाफ़ मैंने लड़ाई की.........मैं हार गई, अब प्रायश्चित कर रही हूँ, प्रकृति किसी को माफ़ नहीं करती।''

यद्यपि वे अति संवेदनशील थीं, किंतु केवल भावावेश में न तो कोई निर्णय लिया करती थीं, और न ही कुछ कहती थीं; उनकी प्रत्येक बात के पीछे कोई-न-कोई तर्क अवश्य होता था। एक बार चर्चा के मध्य जब उनकी शिष्या गंगा ने उनसे पूछा-''मृत शरीर को जलाना ठीक है या गाड़ना?''

उन्होंने कहा—''जलाना ठीक है, स्थान नहीं घिरता, राख मिट्टी में मिल जाती है।'' अपनी मृतदेह के संस्कार के विषय में एक बार उन्होंने राधा बहन से भी कहा था—''मैं जिस देश में रहती हूँ, मेरा जो नाम गाँधीजी ने रखा है; उसी विधि से मेरा अंतिम संस्कार ठीक रहेगा।''

डॉक्टरों की सलाह पर, (1.7.1982) एक जुलाई को उन्हें अल्मोड़ा एन. डी.टी. (नारायण दत्त देवाल) में स्थित 'हेमावती' लाया गया। इस स्थान से सरला बहन के युवावस्था की अनेक स्मृतियाँ जुड़ी हुई थीं। महीनों बाद उस रात वे चैन की नींद सोईं। प्रातःकाल जब सोकर उठीं, तब वे अत्यन्त प्रफुल्लित थीं। उस दिन उन्होंने अपना प्रिय भोजन नमकरहित खिचड़ी एवं दलिया भी खाया और स्वेच्छा से बरामदे में आकर बैठ गईं। धीरे-धीरे 'हेमावती' से जुड़ी अतीत की मधुर स्मृतियाँ एक-एक कर चलचित्र की भाँति उनकी आँखों में तैरने... वे अपनी प्रिय शिष्या राधा दीदी को अपने युवावस्था को संस्मरण सुनाने लगीं। जिस प्रकार दीपक की लौ बुझने से पहले तीव्रता से प्रदीप्त हो उठती है, वही स्थिति उस दिन सरला बहन की भी थी। दो-तीन दिनों के बाद पुनः उनके पैरों की सूजन बढ़ने लगी; चेहरा विकृत होने लगा; श्वास लेने में कष्ट इतना अधिक बढ़ गया कि कृत्रिम श्वास देने के लिए 'आक्सीजन सिलैंडर' का प्रयोग किया जाने लगा।

छह जुलाई उन्नीस सौ बयासी, अपना भौतिक शरीर त्यागने से दो दिन पहले उनका आत्मनियंत्रण भी समाप्त हो गया था; किंतु तब भी उनकी आत्मा पर गाँधीजी के सिद्धांतों की ही अमिट छाप विद्यमान थी। वे आजीवन एक योगिनी की भाँति प्रयत्नपूर्वक हिन्दी बोलती रहीं, और लोगों को भी हिन्दी बोलने के लिए प्रेरित करती रहीं। हम भारतीयों ने इस देश के निवासी होकर भी अपनी संकुचित मानसिकता के कारण, हिंदी को आज तक राष्ट्रभाषा के पद पर सुशोभित नहीं होने दिया; जबकि केवल हिंदी ही एक ऐसी भाषा है, जो सर्वाधिक भारतवासियों द्वारा समझी और

बोली जाती है और जो हमारी अस्मिता की पहचान है। प्रत्येक देश की अपनी एक राष्ट्रभाषा है, क्योंकि वे अपने क्षेत्र से भी अधिक अपने राष्ट्र से प्रेम करते हैं; किंतु हम अपने प्रांत की भाषा को सर्वश्रेष्ठ मानकर आज भी अपने सीमित स्वार्थों की पूर्ति के लिए, आपस में लड़-झगड़कर, अपने-अपने अहं को तुष्ट कर रहे हैं। ऐसे में सरला बहन का चरित्र हमारे लिए एक उदाहरण है; जिन्होंने हिन्दी के महत्त्व को समझकर आजीवन उसका उपयोग किया तथा दूसरों को भी इसका प्रयोग करने के लिए प्रेरित किया। हिन्दी के प्रति उनके प्रेम एवं समर्पण की पराकाष्ठा यह थी कि उनके आश्रम में अंग्रेजी का प्रयोग तक वर्जित था। इतना ही नहीं, अंग्रेजी में आनेवाले पत्रों का उत्तर भी वे हिन्दी में ही दिया करती थीं।

गाँधीजी के सिद्धांतों के प्रति वे कितनी निष्ठावान थीं इसका पता हमें इस बात से भी चलता है कि आजीवन हिन्दी भाषा की प्रबल पक्षधर रहते हुए भी जीवन के अंतिम दिनों, यद्यपि वे हिन्दी भाषा को भूलकर, अर्द्धचेतनावस्था में बड़बड़ाते हुए अपने मनोभाव अपनी मातृभाषा अंग्रेज़ी में अभिव्यक्त करने लगी थीं; किंतु उस क्षण भी उनके अंतर्मन में गाँधीजी के सिद्धांतों के प्रति समर्पण लेशमात्र भी कम नहीं हुआ। तभी तो बापू की परमप्रिय शिष्या सरला बहन, जीवन के अंतिम क्षणों में भी गाँधीवाद के नाम पर झूठ का सहारा लेने वालों को सचेत करती हुई कह रही थीं—'TELL THE GANDHIANS TO BE TRUE' . (गाँधीवादियों से कहो—सच्चे बनें)

मुद्रक : रेक्मो प्रेस प्रा. लि., नई दिल्ली—110020

कर्मयोगी सरला बहन का वास्तविक नाम कैथरीन था। उनका जन्म 5 अप्रैल, 1901 को लंदन के एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ। पूरा नाम हैरी कैथरीन हाइलामैन था। कैथरीन की मां शिक्षिका थीं, पिता स्वर्णकार थे। अपनी युवावस्था में महात्मा गांधी जी के विचारों से अत्यंत प्रभावित हुईं और भारत चली आईं। गांधी जी के विचारों से प्रभावित होकर वह भारत के कई हिस्सों में रहीं, बच्चों, लड़कियों और महिलाओं की आवश्यकताओं को आत्मसात कर उन्हें उनके अधिकारों के प्रति जागरूक किया। अंत में उत्तराखंड में 6 जुलाई 1982 अपने प्राण त्याग दिए।

सरला बहन का जीवन भारत के हर उस पाठक के लिए महत्वपूर्ण है जो केवल यह न समझे कि सेवा का अधिकार केवल भारत में जन्में व्यक्ति के पास ही सुरश्रित है। मदर टेरेसा की परंपरा में कैथरीन का नाम भी उल्लेखनीय है।

उनके जीवन की यह कथा लिखी है लेखिका डॉ. प्रभा पंत ने, जो की एक सुपरिचित रचनाकार हैं जिनकी 'कुमाऊंनी लोक कथाएं' पुस्तक हैं। कई सम्मान प्राप्त लेखिका वर्तमान मे एम.बी.ए. विद्यालय, हल्द्वानी में एसोसिएट प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं।

nbt.india

एकः सूते सकलम्

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत

NATIONAL BOOK TRUST, INDIA

₹ 90.00

ISBN 812377800-7

9 788123 778006

15160535